प्रियप्रवास

(खड़ी बोली का अपूर्व महाकाव्य)

लेखक
साहित्यवाचस्पति, साहित्यरत्न, कविसम्राट्
पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

प्रकाशक
हिन्दी - साहित्य - कुटीर
बनारस

प्रकाशक—

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

बनारस

मूल्य २॥)

मुद्रक—

श्रीनाथदास अग्रवाल,

टाइम टेबुल प्रेस,

बनारस । ५७६ग–९२

ग्रन्थकार—

साहित्यवाचस्पति, साहित्यरत्न, कविसम्राट्

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

भूमिका

विचार-सूत्र

सहृदय वाचकवृन्द !

मै बहुत दिनो से हिन्दी भापा में एक काव्य-ग्रन्थ लिखने के लिये लालायित था। आप कहेगे कि जिस भाषा मे 'रामचरित-मानस', 'सूरसागर', 'रामचन्द्रिका', 'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत' इत्यादि जैसे बड़े अनूठे काव्य प्रस्तुत है, उसमे तुम्हारे जैसे अल्पज्ञ का काव्य लिखने के लिये समुत्सुक होना वातुलता नहीं तो क्या है? यह सत्य है, किन्तु मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है, बने या न बने, सेवा प्रणाली सुखद और हृदय-ग्राहिणी हो या न हो, परन्तु एक लालायित-चित्त अपनी प्रबल लालसा को पूरी किये विना कैसे रहे? जिसके कान्त-पादाबुजो को निखिल-शास्त्र-पारंगत पूज्यपाद महात्मा तुलसीदास, कवि-शिरोरत्न महात्मा सूर-दास, जैसे महाजनो ने परम सुगंधित अथच उत्फुल्ल पाटल प्रसून अर्पण कर अर्चना की है—कविकुल-मण्डली-मण्डन केशव, देव, विहारी, पद्माकर इत्यादि सहृदयो ने अपनी विकच-मल्लिका चढ़ा कर भक्ति-गद्गद-चित्त से आराधना की है—क्या उसको मैं एक नितान्त साधारण पुष्प द्वारा पूजा नहीं कर सकता? यदि 'स्वान्त खाय' मै ऐसा कर सकता हूँ तो अपनी टूटी-फूटी भापा मे एक हिन्दी-काव्य ग्रन्थ भी लिख सकता हूँ, निदान इसी विचार के वशीभूत हो कर मैने 'प्रियप्रवास' नामक इस काव्य की रचना की है।

काव्य-भाषा

यह काव्य खड़ी बोली मे लिखा गया है। खड़ी बोली मे छोटे छोटे कई काव्य-ग्रन्थ अब तक लिपिबद्ध हुए हैं, परन्तु उनमे से अधिकाश सौ दो सौ पद्यो मे ही समाप्त है, जो कुछ बडे है वे अनुवादित है मौलिक नहीं। सहृदय कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथवध' निस्सन्देह मौलिक ग्रन्थ है, परन्तु यह खण्ड-काव्य है। इसके अतिरिक्त ये समस्त ग्रन्थ अन्त्यानुप्रास विभूषित है, इस लिये खड़ी बोलचाल मे मुझको एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता देख पड़ी, जो महाकाव्य हो, और ऐसी कविता मे लिखा गया हो जिसे भिन्नतुकान्त कहते है। अतएव मै इस न्यूनता की पूर्ति के लिये कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और अनवरत परिश्रम कर के इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रन्थ की रचना की; जो कि आज आप लोगों के कर-कमलो मे सादर समर्पित है। मैने पहले इस ग्रन्थ का नाम 'व्रजांगना-विलाप' रखा था, किन्तु कई कारणो से मुझको यह नाम बदलना पड़ा, जो इस ग्रन्थ के समग्र पढ़ जाने पर आप लोगो को स्वयं अवगत होगे। मुझ मे महाकाव्यकार होने की योग्यता नही, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नही जो महाकाव्य के लिये उपयुक्त उपस्कर सग्रह करने मे कृतकार्य्य हो सके, अतएव मै किस मुख से यह कह सकता हूॅ कि 'प्रियप्रवास' के बन जाने से खड़ी बोली मे एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हो गई। हॉ, विनीत भाव से केवल इतना ही निवेदन करूॅगा कि महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रंथ सत्रह सर्गों मे केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देख कर हिन्दी-साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ सुकवियो और सुलेखको का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ मर्म्मस्पर्शिनी-सुलेखनी द्वारा लिपिबद्ध हो कर खड़ी बोली मे सर्वांग सुन्दर कोई महाकाव्य आप लोगो को

हस्तगत नही होता, तब तक यह अपने सहज रूप मे आप लोगो के ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल चक्षुओ के सम्मुख है, और एक सहृदय कवि के कण्ठ से कण्ठ मिला कर यह प्रार्थना करता है 'जबलौ फुलै न केतकी, तबलौ बिलम करील।'

कविता-प्रणाली

यद्यपि वर्त्तमान पत्र और पत्रिकाओ मे कभी-कभी एक आध भिन्नतुकान्त कविता किसी उत्साही युवक कवि की लेखनी से प्रसूत हो कर आजकल प्रकाशित हो जाती है, तथापि मैं यह कहूँगा कि भिन्नतुकान्त कविता भाषा-साहित्य के लिये एक बिल्कुल नई वस्तु है, और इस प्रकार की कविता मे किसी काव्य का लिखा जाना तो 'नूतनं नूतनं पदे पदे' है। इस लिये महाकाव्य लिखने के लिये लालायित हो कर जैसे मैंने बालचापल्य किया है, उसी प्रकार अपनी अल्प विषया-मति साहाय्य से अतुकान्त कविता मे महाकाव्य लिखने का यत्न कर के मै अतीव उपहासास्पद हुआ हूँ। किन्तु, यह एक सिद्धान्त है कि 'अकरणात् मन्दकरणम् श्रेय' और इसी सिद्धान्त पर आरूढ हो कर मुझ से उचित वा अनुचित यह साहस हुआ है। किसी कार्य्य मे सयत्न होकर सफलता लाभ करना बड़े भाग्य की बात है, किन्तु सफलता न लाभ होने पर सयत्न होना निन्दनीय नही कहा जा सकता। भाषा मे महाकाव्य और भिन्नतुकान्त कविता मे लिख कर मेरे जैसे विद्या बुद्धि के मनुष्य का सफलता लाभ करना यद्यपि असंभव बात है किन्तु इस कार्य्य के लिये मेरा सयत्न होना गर्हित नही हो सकता, क्योकि 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' जो हो परन्तु यह 'प्रियप्रवास' ग्रंथ आद्योपान्त अतुकान्त कविता में लिखा गया है— यत मेरे लिये यह पथ सर्वथा नूतन है, अतएव आशा है कि विद्वद्जन इसकी त्रुटियो पर सहानुभूतिपूर्वक दृष्टिपात करेगे।

सस्कृत के समस्त काव्य-ग्रंथ अतुकान्त अथवा अन्त्यानुप्रास-हीन कविता से भरे पडे है। चाहे लघुत्रयी, रघुवश आदि, चाहे वृहत्त्रयी किरातादि, जिसको लीजिये उसी मे आप भिन्नतुकान्त कविता का अटल राज्य पावेगे। परन्तु हिन्दी काव्य-ग्रंथो मे इस नियम का सर्वथा व्यभिचार है। उस मे आप अन्त्यानुप्रासहीन कविता पावेंगे ही नहीं। अन्त्यानुप्रास वड़े ही श्रवण-सुखद होते है और कथन को भी मधुरतर बना देते है। ज्ञात होता है कि हिन्दी-काव्य-ग्रन्थो मे इसी कारण अन्त्यानुप्रास की इतनी प्रचुरता है। वालको की बोलचाल मे, निम्न जातियो के साधारण कथन और गान तक मे आप इसका आदर देखेगे, फिर यदि हिन्दी काव्य-ग्रन्थो मे इसका समादर अधिकता से हो तो आश्चर्य क्या है? हिन्दी ही नहीं, यदि हमारे भारतवर्ष की प्रान्तिक भाषाओ—बॅगला, पंजाबी, मरहठी, गुजराती आदि—पर आप दृष्टि डालेगे तो वहॉ भी अन्त्यानुप्रास का ऐसा ही समादर पावेगे; उर्दू और फारसी मे भी इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है। अरबी का तो जीवन ही अन्त्यानुप्रास है, उसके पद्य-भाग को कौन कहे, गद्य-भाग मे भी अन्त्यानुप्रास की बड़ी छटा है। मुसलमानो के प्रसिद्ध धर्म्म-ग्रथ कुरान को उठा लीजिये, यह गद्य-ग्रन्थ है, किन्तु इसमे अन्त्यानुप्रास की भरमार है। चीनी, जापानी जिस भाषा को लीजिये, एशिया छोड़ कर यूरोप और अफ्रिका मे चले जाइये, जहॉ जाइयेगा वहीं कविता मे अन्त्यानुप्रास का समादर देखियेगा। अन्त्यानुप्रास की इतनी व्यापकता पर भी समुन्नत भाषाओ मे भिन्नतुकान्त कविता आदृत हुई है, और इस प्रकार की कविता मे उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे गये है। सस्कृत की बात मै ऊपर कह चुका हूँ, बॅगला मे इस प्रकार की कविता से भूषित 'मेघनाद वध' नाम का एक सुन्दर काव्य है।

ऑगरेजी मे भी भिन्नतुकान्त कविता मे लिखित कई उत्तमोत्तम पुस्तके है।

कहा जाता है, भिन्नतुकान्त कविता सुविधा के साथ की जा सकती है, और उसमे विचार-स्वतंत्रता, सुलभता और अधिक उत्तमता से प्रकट किये जा सकते है। यह बात किसी अश मे सत्य है, परन्तु मै यह मानने के लिये तैयार नही हूँ कि केवल इसी विचार से अंत्यानुप्रास विभूषित कविता की आवश्यकता नही है। यदि अन्त्यानुप्रास आदर की वस्तु न होता, तो वह कदापि संसार-व्यापी न होता, उसका इतना समादृत होना ही यह सिद्ध करता कि वह आदरणीय है। इसके अतिरिक एक साधारण वाक्य को भी अन्त्यानुप्रास सरस कर देता है। हॉ, भाषा सौकर्य्य साधन के लिये और उसको विविध प्रकार की कविता से विभूषित करने के उद्देश्य से अतुकान्त कविता के भी प्रचलित होने की आवश्यकता है, और मैने इसी विचार से इस 'प्रियप्रवास' ग्रथ की रचना, इस प्रकार की कविता मे की है।

काव्यवृत्त

मैने ऊपर निवेदन किया है कि सस्कृत कविता का अधिकांश भिन्नतुकान्त है, इस लिये यह स्पष्ट है कि भिन्नतुकान्त कविता लिखने के लिये सस्कृत-वृत्त बहुत ही उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त भाषा-छन्दो मे मैने जो एक आध अतुकान्त कविता देखी उसको बहुत ही भद्दी पाया, यदि कोई कविता अच्छी भी मिली तो उसमे वह लावण्य नही मिला, जो सस्कृत-वृत्तो मे पाया जाता है, अतएव मैने इस ग्रथ को संस्कृत-वृत्तो मे ही लिखा है। यह भी भाषा-साहित्य में एक नई बात है। जहॉ तक मै अभिज्ञ हूँ अब तक हिन्दी-भाषा मे केवल संस्कृत-छन्दो मे कोई ग्रंथ नही लिखा गया है। जब से हिन्दी-भाषा मे खडी बोली की कविता का प्रचार हुआ

है तब से लोगो की दृष्टि संस्कृत-वृत्तो की ओर आकर्षित है, तथापि मैं यह कहूँगा कि भाषा मे कविता के लिये संस्कृत-छन्दो का प्रयोग अब भी उत्तम दृष्टि से नही देखा जाता। हम लोगो के आचार्य्यवत् मान्य श्रीयुत् परिडत बालकृष्ण भट्ट अपनी द्वितीय साहित्य-सम्मेलन की स्वागत-सम्बन्धिनी वक्तृता मे कहते हैं —

"आज कल छन्दो के चुनाव मे भी लोगो की अजीब रुचि हो रही है, इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि संस्कृत छन्दो का हिन्दी मे अनुकरण हम मे तो कुढ़न पैदा करता है"

—द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्यविवरण २ भाग पृष्ठ ८

'प्रियप्रवास' ग्रंथ १५ अकतूबर सन् १९०९ ई० को प्रारम्भ और कार्य्य-बाहुल्य से २४ फरवरी सन् १९१३ ई० को समाप्त हुआ है। जिस समय आधे ग्रंथ को मै लिख चुका था, उस समय माननीय परिडत जी का उक्त वचन मुझे दृष्टिगोचर हुआ। देखते ही अपने कार्य्य पर मुझ को कुछ क्षोभ सा हुआ, परन्तु मै करता तो क्या करता, जिस ढंग से ग्रंथ प्रारम्भ हो चुका था, उसमे परिवर्त्तन नही हो सकता था। इसके अतिरिक्त श्रद्धेय परिडत जी का उक्त विचार मुझको सर्वांश मे समुचित नही जान पड़ा, क्योकि हिन्दी-भाषा के छन्दो से संस्कृत-वृत्त खड़ी बोली की कविता के लिये अधिक उपयुक्त है, और ऐसी अवस्था मे वे सर्वथा त्याज्य नहीं कहे जा सकते। मै दो एक वर्त्तमान भाषा-साहित्य-अनुरागियो की अनुमति नीचे प्रकाशित करता हूँ। इन अनुमतियो के पठन से भी मेरे उस सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जिसको अवलम्बन कर मैने सस्कृत-वृत्तो मे अपना ग्रंथ रचा है। उदीयमान युवक कवि पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी वि० सम्वत् १९६८ मे प्रकाशित अपने 'हिन्दी मेघदूत' की भूमिका के पृष्ठ ३, ४ मे लिखते है '—

"जब तक खड़ी बोली की कविता मे संस्कृत के ललित वृत्तो

की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तो के विद्वान् इससे सच्चा आनन्द कैसे उठा सकते है? यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी के काव्य-ग्रंथो का स्वाद अन्य प्रान्तवालो को भी चखाना है तो उन्हे संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी, पृथ्वी, वसततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि ललित वृत्तो से अलकृत करना चाहिये। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासी विद्वान् संस्कृत-भाषा के वृत्तां से अधिक परिचित है, इसका कारण यही है कि संस्कृत भारतवर्ष की पूज्य और प्राचीन भाषा है। भाषा का गौरव बढ़ाने के लिये काव्य मे अनेक प्रकार के ललित वृत्तो और नूतन छन्दो का भी समावेश होना चाहिये।"

साहित्यमर्मज्ञ, सहृदयवर, समादरणीय श्रीयुत पण्डित मन्नन द्विवेदी, सम्वत् १९७० मे प्रकाशित 'मर्यादा' की ज्येष्ठ, आषाढ़ की मिलित सख्या के पृष्ठ ९६ मे लिखते है —

"यहाँ एक बात बतला देना बहुत जरूरी है। जो बेतुकान्त की कविता लिखे, उसको चाहिये कि सस्कृत के छन्दों को काम मे लाये। मेरा ख्याल है कि हिन्दी पिगल के छन्दो मे बेतुकान्त कविता अच्छी नही लगती। स्वर्गीय साहित्याचार्य्य प० अम्बिकादत्त जी व्यास ऐसे विद्वान् भी हिन्दी-छन्दो मे अच्छी बेतुकान्त कविता नहीं कर सके। कहना नहीं होगा कि व्यास जी का 'कंस-वध' काव्य बिल्कुल रद्दी हुआ है।"

अब रही यह बात कि सस्कृत-छन्दो का प्रयोग मै उपयुक्त रीति से कर सका हूँ या नहीं, और उनके लिखने मे मुझको यथोचित सफलता हुई है या नही। मै इस विषय मे कुछ लिखना नही चाहता, इसका विचार भाषा-मर्म्मज्ञो के हाथ है। हॉ, यह अवश्य कहूँगा कि आद्य उद्योग मे असफल होने की ही अधिक आशका है।

भाषा-शैली

'प्रियप्रवास' की भाषा संस्कृत-गर्भित है। उसमे हिन्दी के स्थान पर संस्कृत का रङ्ग अधिक है। अनेक विद्वान् सज्जन इससे रुष्ट होगे, कहेगे कि यदि इस भाषा मे 'प्रियप्रवास' लिखा गया तो अच्छा होता यदि संस्कृत मे ही यह ग्रन्थ लिखा जाता। कोई भाषा-मर्म्मज्ञ सोचेगे—इस प्रकार संस्कृत-शब्दो को ठूँस कर भाषा के प्रकृत रूप को नष्ट करने की चेष्टा करना नितान्त गर्हित कार्य्य है। उक्त वक्तृता मे भट्ट जी एक स्थान पर कहते है —

"दूसरी बात जो मै आज-कल खड़ी बोली के कवियो मे देख रहा हूँ, वह समासबद्ध क्लिष्ट संस्कृत-शब्दो का प्रयोग है, यह भी पुराने कवियो की पद्धति के प्रतिकूल है।"

इस विचार के लोगो से मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि क्या मेरे इस एक ग्रंथ से ही भाषा-साहित्य की शैली परिवर्तित हो जावेगी? क्या मेरे इस काव्य की लेख-प्रणाली ही अब से सर्वत्र प्रचलित और गृहीत होगी? यदि नहीं, तो इस प्रकार का तर्क समीचीन न होगा। हिन्दी-भाषा मे सरल पद्य मे एक से एक सुन्दर ग्रन्थ है। जहाँ इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ है, वहाँ एक ग्रन्थ 'प्रियप्रवास' के ढंग का भी सही। इसके अतिरिक्त मै यह भी कहूँगा कि क्या ऐसे संस्कृत-गर्भित ग्रन्थ हिन्दी मे अब तक नहीं लिखे गये है? और क्या जन-समाज मे वे समादृत नहीं है? क्या रामचरितमानस, विनयपत्रिका और रामचन्द्रिका से भी 'प्रियप्रवास' अधिक संस्कृत-गर्भित है? क्या जिस प्रकार की संस्कृत-गर्भित खडी बोली की कविता आजकल सामयिक पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो रही है, 'प्रियप्रवास' की कविता दुरूहता मे उससे आगे निकल गई है? यह ग्रन्थ न्यायदृष्टि से पढ़ कर यदि मीमांसा की जावेगी तो कहा जावेगा कभी नहीं, और ऐसी दशा मे मुझे आशा है कि इस

विषय मे मै विशेष दोषी न समझा जाऊँगा। कुछ संस्कृत-वृत्तों के कारण और अधिकतर मेरी रुचि से इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत-गर्भित है, क्योकि अन्य प्रान्तवालों में यदि समादर होगा तो ऐसे ही ग्रन्थो का होगा। भारतवर्ष भर मे संस्कृत-भाषा आदृत है। बँगला, मरहठी, गुजराती, वरन् तामिल और पंजाबी तक मे संस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। इन संस्कृत शब्दो को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी-भाषा उन प्रान्तो के सज्जनो के सम्मुख उपस्थित होगी तो वे साधारण हिन्दी से उसका अधिक समादर करेंगे, क्योकि उसके पठन-पाठन मे उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने मे दुरूहता होगी, क्योकि सम्मिलन के लिये भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगी होता है। मै यह नहीं कहता कि अन्य प्रान्तवालो से घनिष्ठता का विचार करके हम लोग अपने प्रान्तवालो की अवस्था और अपनी भाषा के स्वरूप को भूल जावे। यह मैं मानूँगा कि इस प्रान्त के लोगो की शिक्षा के लिये और हिन्दी भाषा के प्रकृत-रूप की रक्षा के निमित्त, साधारण वा सरल हिन्दी मे लिखे गये ग्रन्थो की ही अधिक आवश्यकता है, और यही कारण है कि मैने हिन्दी मे कतिपय संस्कृत-गर्भित ग्रन्थो की प्रयोजनीयता बतलाई है। परन्तु यह भी सोच लेने की बात है कि क्या यहाँवालो को उच्च हिन्दी से परिचित कराने के लिये ऐसे ग्रन्थो की आवश्यकता नहीं है, और यदि है तो मेरा यह ग्रन्थ केवल इसी कारण से उपेक्षित होने योग्य नहीं। जो सज्जन मेरे इतना निवेदन करने पर भी अपनी भौंह की वक्रता निवारण न कर सके, उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे 'वैदेही-वनवास'* के कर-कमलो मे पहुँचने तक मुझे क्षमा

---

* जहाँ से यह ग्रन्थ छपा है वहीं से 'वैदेही-वनवास' भी छप गया है।

करें, इस ग्रन्थ को मै अत्यन्त सरल हिन्दी और प्रचलित छन्दो मे लिख रहा हूँ।

मैंने ऊपर लिखा है कि "क्या 'रामचरितमानस' 'रामचंद्रिका' और 'विनयपत्रिका' मे भी 'प्रियप्रवास' अधिक संस्कृत-गर्भित है," मेरे इस वाक्य से सभव है कि कुछ भ्रम उत्पन्न होवे, और यह समझा जावे कि मैं इन पूज्य ग्रन्थो के वन्दनीय ग्रन्थकारो मे स्पर्द्धा कर रहा हूँ और अपने कॉच की हीरकखण्ड के साथ तुलना करने मे सयत्न हूँ। अतएव मैं यहाँ स्पप्ट शब्दो मे प्रकट कर देता हूँ कि मेरे उक्त वाक्य का मर्म्म केवल इतना ही है कि सस्कृत-शब्दो के बाहुल्य से कोई ग्रन्थ अनादृत नहीं हो सकता। यह और बात है कि सस्कृत-शब्दो का प्रयोग उचित रीति और चारु - रूपेण न हो सके, और इस कारण से कोई ग्रन्थ हास्यास्पद और निन्दनीय बन जावे।

कवितागत स्वारस्य

हिन्दी के कतिपय वर्त्तमान साहित्यसेवियो का यह भी विचार है कि खड़ी बोली मे सरस और मनोहर कविता नही हो सकती। पूज्य पण्डित जी अपने उक्त भाषण मे ही एक स्थान पर लिखते है:—

"खड़ी बोली की कविता पर हमारे लेखको का समूह इस समय टूट पड़ा है। आज कल के पत्रो और मासिक-पत्रिकाओ मे बहुत सी इस तरह की कवितायें छपी है, परन्तु इनमे अधिकतर ऐसी है जिनको कविता कहना ही कविता की मानो हँसी करना है, हमे तो काव्य के गुण इनमे बहुत कम जॅचते हैं।"

"मेरे विचार मे खड़ी बोली मे एक इस प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम मे ला उसमें सरसता सम्पादन करना प्रतिभावान् के लिये भी कठिन है, तब तुकबन्दी करने वालो की कौन-कहे।"

इन सज्जनो का विचार यह है कि 'मधुर कोमलकांत पदावली'

जिस कविता मे न हो वह भी कोई कविता है। कविता तो वही है जिसमे कोमल शब्दो का विन्यास हो, जो मधुर अथच कान्तपदावली द्वारा अलंकृत हो। खड़ी बोली मे अधिकतर संस्कृत-शब्दो का प्रयोग होता है, जो हिन्दी के शब्दो की अपेक्षा कर्कश होते है। इसके व्यतीत उसकी क्रिया भी ब्रजभाषा की क्रिया से रूखी और कठोर होती है, और यही कारण है कि खडी बोली की कविता सरस नही होती और कविता का प्रधान गुण माधुर्य्य और प्रसाद उसमे नहीं पाया जाता। यहॉ पर मै यह कहूँगा कि पदावली की कान्तता, मधुरता, कोमलता केवल पदावली मे ही सन्निहित है, या उसका कुछ सम्बन्ध मनुष्य के सस्कार और उसके हृदय से भी है? मेरा विचार है कि उसका कुछ सम्बन्ध नहीं, वरन् बहुत कुछ सम्बन्ध मनुष्य के सस्कार और उसके हृदय से है। कर्पूरमंजरीकार प्रसिद्ध राजशेखर कवि अपनी प्रस्तावना मे प्राकृतभाषा की कोमलता की प्रशंसा करते हुए कहते है —

> परुसा सक्कअबधा पाउअबन्धोविहोइ सुउमारो।
> पुरुसाण महिलाण जेत्तिय मिहन्तरं तेत्तिय मिमाणम्॥

इस श्लोक के साथ निम्नलिखित सस्कृत रचनाओ को मिला कर पढिये —

> इतर पापफलानि यथेच्छया वितरतानि सहे चतुरानन।
> अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम् शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥।
> विद्या विनयोपेता हरति न चेतासि कस्य मनुजस्य।
> काञ्चनमणिसंयोगो नो जनयति कस्य लोचनानदम्॥
> वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
> यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा॥
> आयाति याति पुनरेव जल प्रयाति
> पद्माकुराणि विचिनोति धुनोति पक्षौ।

उन्मत्तवद् भ्रमति कूजति मन्दमन्दम्
कान्तावियोगविधुरो निशि चक्रवाक ॥

कतिपय पंक्तियाँ दोनो के गद्य की भी देखिये —

"एसा अह देवदामिट्टुणम् रोहिणीमि अलञ्छणम् मक्खीकदुअ अज्जउत्तम् पसादेमि, अज्ज पहुदि अज्जउत्तीजम् इत्थिअम् कामेदि जा अ अज्जउत्तस्स समागमप्पणइणी ताएम एपीदिवन्धेण वत्ति दव्वम् ।" —विक्रमोर्वशी

"अह खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्ध तस्माच्च प्रियसुहृत्शर्विलकप्रमादेन बन्धनात् विमुक्तोस्मि ।" —मृच्छकटिक

अब बतलाइये कोमल-कान्त-पदावली और सरसता किसमे अधिक है ? उक्त प्राकृत श्लोक का रचयिता कहता है कि "संस्कृत की रचना परुष और प्राकृत की सुकुमार होती है, पुरुष स्त्री मे जो अन्तर है वही अन्तर इन दोनो मे है ।" परन्तु दोनो भाषाओ की ऊर्ध्व लिखित कतिपय पंक्तियो को पढ कर आप अभिज्ञ हुए होगे कि उसके कथन मे कितनी सत्यता है । कोमल-कान्त-पद कौन है? वही जिनके उच्चारण मे मुख को सुविधा हो और जो श्रुतिकटु न हो । संयुक्ताक्षर और टवर्ग जिस रचना मे जितने न्यून होगे वह रचना उतनी ही कोमल और कान्त होगी, और वे जितने अधिक होगे उतनी ही अधिक वह कर्कश होगी । अब आप देखे शब्द-संख्या निर्देश से प्राकृत और संस्कृत के उद्धृत श्लोको और वाक्यो मे से किसमे युक्ताक्षर और टवर्ग अधिक है । आप प्राकृत-श्लोक और वाक्य मे ही अधिक पावेंगे, और ऐसी दशा में यह सिद्ध है कि प्राकृत से सस्कृत की ही पदावली कोमल, मधुर और कान्त है ।

मैं कतिपय प्राकृत वाक्यो को उनके सस्कृत अनुवाद सहित नीचे लिखता हूँ । आप इनको भी पढ कर देखिये, किसमे कोमलता और मधुरता अधिक है । और प्राकृत एव सस्कृत के उन शब्दो

को विशेष मनोनिवेश-पूर्वक पढ़िये जिनके नीचे लकीर खींची हुई है, और इस बात की मीमांसा कीजिये कि एक दूसरे का रूपान्तर होने पर भी उनमे कौन कान्त है।

अज्जस्सजेव्व पिअवअस्सेन चुण बुड्ढेण।
आर्य्यस्यैव प्रियवयस्येन चूर्ण वृद्धेन।

आ दासीएपुत्ता चुणबुड्ढा कदाणुक्खु तुम कुविदेणरणा पालयेण णव वहू केस कलाव विअ ससुअन्ध कप्पिजन्त पेक्खिस्स।
आ दास्या पुत्र चूर्ण वृद्ध कदानु' खलु त्वा कुपितेन राज्ञा पालकेननववधूकेशकलापमिव ससुगन्ध छेद्यमान प्रेक्षिष्ये।

अम्हारिस जण जोग्गेण बम्हणेण उवनिमन्तितेण।
अस्मादृश जन योग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन॥

ह्वादेह शलिल जलेहिं पाणिएहि उज्जाणेउववण काणणेणिशणे णालीहिसहजुवदी हिइत्थिआहिगन्धव्वोविअशुदेहिअङ्गकेहि
स्नातोह सलिलजलं पानीय उद्याने उपवन कानने निशण्णे।
नारीभि सह युवतीभि' स्त्रीभिगन्धर्व इव सुहितैरङ्गकै।

हत्थशञ्जदो मुहशञ्जदो इन्दियशञ्जदो शेक्खु माणुशे।
कि कलेदि लाअउले तश्श पललोओ हत्थे णिच्चले॥
हस्तसयत' मुखसयत इन्द्रियसयत' सखलु मनुष्य।
कि करोति राजकुल तस्य परलोको हस्ते निश्चल॥

—मृच्छकटिक

यदि कहा जावे कि संस्कृत-श्लोको और वाक्यो के चुनने मे जिस सहृदयता से काम लिया गया है, प्राकृत के श्लोको और वाक्यो

के चुनने मे वैसा नहीं किया गया, तो पहले तो यह तर्क इस लिये उचित न होगा कि प्राकृत वाक्यों या श्लोकों का ही अनुवाद तो संस्कृत मे नीचे दिया गया है। दूसरे मैं इस तर्क के समाधान के लिये कतिपय प्राकृत और सस्कृत के मनोहर श्लोको और वाक्यों को नीचे लिखता हूँ। आप उनको मिलाइये, और देखिये कि दोनो की सरसता और कोमलता में कितना अन्तर है।

असारे सार मतिनो सारे चासार दस्सिनो।
ते सारे नाधि गच्छन्ति मिच्छा सकप्पगोचरा ॥१॥
अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठत गतो।
अप्पमाद परा सन्ति पमादो गरहितो सदा ॥२॥

नपुप्फगधो पटिवातमेति न चन्दन तग्गर मल्लिका वा।
सत च गधो पटिवातमेति सब्बादिसा सप्पुरिसोपवायति ॥३॥

उदक हि नयन्ति नेतिका उसुकारानमयन्ति तेजन।
दारुनमयन्ति तच्छका अत्तान दमयन्ति पण्डिता ॥४॥
मासे मासे सहस्सेनयो यजेथ सत समम्।
एक च भावितत्तान मुहुत्तमपि पूजये ॥५॥—धम्मपद

रणन्त मणिणेउर झणझणन्तहारच्छड।
कलक्कणिद किंकिणी मुहर मेहलाडम्बर।
विलोल वलआवलीजणिदमजुसिंजारव।
णकस्समणमोहण ससिमुहीअहिन्दोलणम् ॥६॥—कर्पूरमजरी

* * * *

अलिरसौ नलिनीवनवल्लभ कुमुदिनीकुलकेलिकलारस।
विधिवशेन विदेशमुपागत कुटजपुष्परस बहुमन्यते ॥१॥
केवानसन्तिभुवितामरसावतसाहसावलीवलयिनोवलसन्निवेशा।
किंचातकोफलमवेक्ष्यसवज्रपातापौरन्दरीमुपगतोनववारिधाराम् ॥२॥

निर्वाणदीपे किमु तैलदानं चौरे गते वा किमु सावधानम् ।
वयोगते किं वनिताविलासः पयोगते किं खलु सेतुबन्धः ॥३॥

वरमसिधारा तरुतलवासो वरमिह भिक्षा वरमुपवासः ।
वरमपि घोरे नरके पतनं न च धनगर्वितबान्धवशरणम् ॥४॥

विहाररामखेदभेद धीरतीर मारुता
गतागिरामगोचरे यदीयनीरचारुता ।
प्रवाहसाहचर्य्य पूत मेदिनी नदी नदा
धुनातु नो मनोमलं कलिन्दनन्दिनी सदा ॥५॥—काव्यसंग्रह

* * * *

शिलीमुखेऽस्मिस्तवनामवाञ्छिते मृगोपनीते मृगशावलोचना ।
प्रमोदमासेयमितो विलोकिते करे चकोरीव तुषारदीधितेः ॥१॥
मनसिजवरवीर वैजयन्त्यास्त्रिभुवनदुर्लभविभ्रमैकभूमेः ।
कुचमुकुलविचित्रपत्रवल्लीपरिचित एष सदा शशिप्रभायाः ॥२॥
—साहसाङ्कचरित

* * * *

'णम पहादा रअणी ता सिग्धम् सअणम् परिच्चआमि । अधवा लहु लहु उत्थिदाहि किं कारिस्समणमे उद्देसुम पहादकरणीये मुग्धप्पपादाओप्सरन्ति, कामो दाणिम् सकामोभोदु, जेण असरणन्धे जणेपिअसही तुद्धहिअआपद कारिदा ।"
—शकुन्तला नाटक

* * * *

"सैवाह कादम्बरीयानेन कुमारेण मत्तमदमुरमधुकरकुलकलकोलाहल-मुखरिते, कोकिलकामिनीकलकूजिते विरहिजनमनादुःखे, विकचदलारविन्दनि-ष्यन्दमानमकरन्दगन्धवहानन्दितदशदिशि प्रदोषसमये विकसितकुसुमामोद-समुल्लसितमानिनीमानग्रहोन्मोचनरते, कुसुमायुधे ।" —कादम्बरी

यदि इन श्लोकों और गद्य अवतरणों को पढ़कर यह युक्ति उपस्थित की जावे कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई ? प्राकृत भाषा की उत्पत्ति का कारण यही है न कि संस्कृत के कठिन शब्दों को सर्व साधारण यथा रीति उच्चारण नहीं कर सकते थे, वे उच्चारण सौकर्य्य-साधन और मुख की सुविधा के लिये उसे कुछ कोमल और सरल कर लेते थे क्योंकि मनुष्य का स्वभाव सरलता और सुविधा को प्यार करता है, तो यह सिद्ध है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति ही सरलता और कोमलतामूलक है। अर्थात् प्राकृत भाषा उसीका नाम है जो संस्कृत के कर्कश शब्दों को कोमल स्वरूप मे ग्रहण कर जन-साधारण के सम्मुख यथाकाल उपस्थित हुई है, और ऐसी अवस्था मे यह निर्विवाद है कि संस्कृत भाषा से प्राकृत कोमल और कान्त होगी। मै इस युक्ति को सर्वांश मे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ। यह सत्य है कि प्राकृत भाषा मे अनेक शब्द ऐसे है जो संस्कृत के कर्कश स्वरूप को छोड़ कर कोमल हो गये है। किन्तु कितने शब्द ऐसे है जो संस्कृत शब्दो का मुख्य रूप त्याग कर उच्चारण-विभेद से नितान्त कर्ण-कटु हो गये है और यही शब्द मेरे विचार मे प्राकृत वाक्यो को संस्कृत वाक्यो से अधिकांश स्थलो पर कोमल नहीं होने देते।

निम्नलिखित शब्द ऐसे है जो संस्कृत का कर्कश रूप छोड़ कर प्राकृत मे कोमल और कान्त हो गये है —

संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
धर्म्म	धम्म	गर्व्व	गव्व	पुत्र	पुत्त
गन्धर्व्व	गन्धव्व	दर्शिन	दस्सिनो	अप्रमादेन	अप्पमादेन
प्रशसन्ति	पससन्ति	प्रमाद	प्रमादो	सर्व	सव्व

किन्तु निम्नलिखित शव्द नितान्त श्रुति-कटु हो गये है —

सस्कृत	प्राकृत	सस्कृत	प्राकृत
प्रियवयस्येन	पिअवअस्सेण	वृद्धेन	बुड्टेण
वृद्ध	बुड्ढा	कदानु	कदाणु
खलु	क्खु	कुपितेन	कुविदेण
राजा	रणा	पालकेन	पालयेण
नव	णव	मित्र	मित्र
जन	जण	योग्येन	जोग्गेण
सलिल	शलिल	पानीयै	पाणिएहि
उद्याने	उज्जाणे	उपवन	उववण
उपनिमंत्रितेन	उवणिमन्तिदेण	स्नातोह	ह्नादेह

इन दोनो प्रकार के उद्धृत शव्दो के अवलोकन से यह स्पष्ट हो गया कि प्राकृत मे सस्कृत के यदि अनेक शव्द कर्कश से कोमल हो गये है, तो उच्चारण-विभिन्नता, जल-वायु और समय-स्रोत के प्रभाव से वहुत से शव्द कोमल वनने के स्थान पर परम कर्ण-कटु बन गये है। संस्कृत के न, द्ध, व, य इत्यादि के स्थान पर प्राकृत भाषा मे ण, ड्, ढ, व, अ इत्यादि का प्रयोग उसको वहुत ही श्रुति-कटु कर देता है, और ऐसी अवस्था मे जिस युक्ति का उल्लेख किया गया है, वह केवल एकाश मे मानी जा सकती है सर्वाश मे नहीं। और जव यह युक्ति सर्वाश मे गृहीत नहीं हुई, तो जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन मै ऊपर से करता आया हूँ वही निर्विवाद ज्ञात होता है, और हमको इस वात के स्वीकार करने के लिये वाध्य करता है कि प्राकृत भाषा से सस्कृत भाषा परुष नहीं है। तथापि राजशेखर जैसा वावदूक विद्वान् उसको प्राकृत से परुष वतलाता है, इसका क्या कारण है?

मै समझता हूँ इसके निम्नलिखित कारण है —

१—एक संस्कार जो सहस्रों वर्ष तक भारतवर्ष में फैला था, और जो प्राकृत को संस्कृत की जननी और उससे उत्तम बतलाता था।

२—प्राकृत का सर्वसाधारण की भाषा अथवा अधिकांश उसका निकटवर्ती होना।

३—बोलचाल में अधिक आने के कारण प्राकृत का संस्कृत की अपेक्षा बोधगम्य होना।

और इसी लिये मेरा यह विचार है कि पदावली की कान्तता, कोमलता और मधुरता केवल पदावली में ही सन्निहित नहीं है। वरन् उसका बहुत कुछ सम्बन्ध सस्कार और हृदय से भी है। सम्भव है कि मेरा यह विचार इन कतिपय पंक्तियों द्वारा स्पष्टतया प्रतिपादित न हुआ हो। इसके अतिरिक्त यह कदापि सर्वसम्मत न होगा कि प्राकृत से संस्कृत परुष नहीं है, अतएव मैं एक दूसरे पथ से अपने इस विचार को पुष्ट करने की चेष्टा करता हूँ।

जिस प्राकृत भाषा के विषय में यह सिद्धान्त हो गया था कि —

सा मागधी मूलभाषा नरेय आदि कप्पिक ।
ब्राह्मणमसूटल्लाप समबुद्धचापि भाषरे ॥

पतिसम्विध अत्तय, नामक पाली ग्रन्थ में जिस भाषा के विषय में लिखा गया है कि "यह भाषा देवलोक, नरलोक प्रेतलोक और पशु जाति में सर्वत्र ही प्रचलित है, किरात, अन्धक,योणक, दामिल प्रभृति भाषा परिवर्तनशील है। किन्तु मागधी, आर्य और ब्राह्मण-गण की भाषा है, इसलिये अपरिवर्त्तनीय और चिरकाल से समान-रूपेण व्यवहृत है। मागधी भाषा को सुगम समझ कर बुद्धदेव ने स्वय पिटकनिचय को सर्वसाधारण के बोध-सौकर्य्य के लिये इस भाषा में व्यक्त किया था।" जिस प्राकृत को राजशेखर जैसा असा-धारण विद्वान् सस्कृत से कोमल और मधुर होने का प्रशसापत्र देता है, काल पाकर वह अनादृत क्यों हुई ? उसका प्रचार इतना न्यून

क्यो हो गया कि उसके ज्ञाताओ की सख्या ऊँगलियो पर गिनी जाने योग्य हो गई ? मधुरता, कोमलता, कान्तता किसको प्यारी नही है, सुविधा का आदर कौन नही करता, फिर सुविधामूलक मधुर कोमलकान्त भाषा का व्यवहार क्यो कवियो की रचनाओ आदि मे दिन दिन अल्प होता गया ? कहा जावेगा कि प्राकृत भाषा की प्रिय-दुहिता परम सरला और मनोहरा हिन्दी भाषा का प्रचार ही इस ह्रास का कारण है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि यह प्रिय-दुहिता अपनी जन्मदायिनी से इतनी विरक्त क्यो हो गई कि दिन-दिन उसके शब्दो को त्याग कर सस्कृत शब्दो को ग्रहण करने लगी; काल पाकर क्यो थोड़े प्राकृत शब्द भी अपने मुख्य रूप मे उसमे शेष न रहे, और उस सस्कृत के अनेक शब्द उसमे क्यो भर गये जो कि परुष कही जाती है।

उस काल के ग्रन्थो मे केवल एक ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो, अब हम लोगो को प्राप्त है, अतएव मै उसी ग्रन्थ के कुछ पद्यो को यहाँ उद्धृत करता हूँ। आप लोग इनको पढकर देखिये कि किस प्रकार उस समय प्राकृत भाषा के शब्दो का व्यवहार न्यून और कैसे सस्कृत के शब्दो का समादर अधिक हो चला था। आज कल प्राकृत भाषा हम लोगो की इतनी अपरिचिता है कि उसके बहुत से शब्दो का व्यवहार करने के कारण ही, हम लोग अनुराग के साथ 'पृथ्वीराज रासो' को नही पढ सकते और उससे घबड़ाते है।

श्लोक

आसामहीव्र कव्वी नवनव कित्तिय सग्रह ग्रंथ।
सागरसरिसतरगी वोहथ्थय उक्तियं चलय॥

दोहा

काव्य समुद कविचन्द कृत युगति समप्पन ज्ञान।
राजनीति वोहिथ सुफल पार उतारन यान॥

सत्त सहस नष सिष सरस सकल आदि मुनि दिष्य ।
घट बढ़ मत कोऊ पढौ मोहि दूसन न वसिष्य ॥

चन्द की रचना मे तो प्राकृत शब्द मिलते भी है, वरन् कहीं कहीं अधिकता से मिलते है, किन्तु महाकवि चन्द के पश्चात् के जितने कवियो की कवितायें मिलती है उनमे प्राकृत भाषा के शब्दो का व्यवहार बिल्कुल नही पाया जाता। कारण इसका यह है कि इस समय प्राकृत भाषा का व्यवहार उठ गया था और हिन्दी का राज्य हो गया था। इस काल की रचना मे अधिकांश हिन्दी-शब्द ही पाये जाते है, हिन्दी-शब्द के साथ आते है तो सस्कृत के शब्द आते है, प्राकृत के शब्द बिल्कुल नही आते। महात्मा तुलसीदास, भक्तवर सूरदास और कविवर केशवदास की रचना मे तो कहीं कहीं हिन्दी-शब्दो से भी अधिक संस्कृत शब्दो का प्रयोग हुआ है।

पहले आप इन तीनो महोदयो के प्रथम की रचनाओ को देखिये.-

तरवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया॥

सर्व सलोना सब गुन नीका। वा बिन सब जग लागे फीका॥
वाके सिर पर होवे कोन। ए सखि साजन ? ना सखि लोन॥
सिगरी रैन मोहि सँग जागा। भोर भया तो बिछुरन लागा॥
वाके बिछुरत फाटत हीया। ए सखि साजन ? ना सखि दीया॥

—अमीर खुसरो

क्या पढिये क्या गुनियै। क्या वेद पुराना सुनियै॥
पढे सुने क्या होई। जो सहज न मिलियो सोई॥
हरि का नाम न जपसि गँवारा। क्या सोचै बारम्बारा॥
अँधियारे दीपक चहियै। इक वस्तु अगोचर लहियै॥
वस्तु अगोचर पाई। घट दीपक रह्यो समाई॥
कह कबीर अब जाना। जब जाना तो मन माना॥

हृदय कपट मुख ज्ञानी । झूठे कहा बिलोवसि पानी ॥
काया माजसि कौन गुना । जो घट भीतर है मैलना ॥
लौकी अठ सठ तीरथ न्हाई । कौरापन तऊ न जाई ॥
कह कबीर बीचारी । भवसागर तार मुरारी ॥

—कबीर साहब

नागमती चितौर पथ हेरा । पिउ जो गये फिर कीन न फेरा ॥
सुआ काल है लैगा पीऊ । पीउ न जात जात बरु जीऊ ॥
भयो नरायन बावन करा । राज करत राजा बलि छरा ॥
करन बान लीनो कै छंदू । भरथहिं भो झलमला अनदू ॥
लै कतहि भा गरुर अलोपी । विरह वियोग जियहिं किमि गोपी ॥
का सिर बरनो दिपइ मयङ्कू । चॉद कलकी वह निकलङ्कू ॥
तेही लिलार पर तिलकु वईठा । दुइज पास मानो ध्रुव डीठा ॥

—मलिक महम्मद जायसी

अब आप उक्त तीनो महोदयो की रचनाओ को देखिये । इनमे सस्कृत शब्दो की कितनी प्रचुरता है —

जमुना जल बिहरति ब्रज-नारी ।
तट ठाढे देखत नॅदनन्दन मधुर-मुरलि कर धारी ॥
मोर मुकुट श्रवनन मणि कुण्डल जलज-माल उर भ्राजत ।
सुन्दर सुभग श्याम तन नव घन बिच बग-पॉति विराजत ॥
उर बनमाल सुभग बहु भॉतिन सेत लाल सित पीत ।
मानो सुरसरि तट बैठे शुक बरन बरन तजि भीत ॥
पीताबर कटि मैं छुद्रावलि बाजत परम रसाल ।
सूरदास मनो कनकभूमि ढिग बोलत रुचिर मराल ॥

—भक्तवर सूरदास

सहज मनोहर मूरति दोऊ । कोटि काम उपमा लघु सोऊ ॥
सरद चद निंदक मुख नीके । नीरज नयन भावते जीके ॥

चितवन चारु मार मद हरनी । भावत हृदय जात नहि वरनी ॥
कलकपोल श्रुति कुण्डल लोला । चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला ॥
कुमुद -वधु कर निन्दक हॉसा । भृकुटी विकट मनोहर नासा ॥
भाल विशाल तिलक झलकाही । कच विलोकि अलि अवलि लजाहीं ॥
रेखा रुचिर कम्बु कल ग्रीवा । जनु त्रिभुवन सोभा की सीवा ॥

—महात्मा तुलसीदास

हरि कर मडन सकल दुख खडन
मुकुर महि मडल को कहत अखण्ड मति ।
परम सुवास पुनि पीयुख निवास
परिपूरन प्रकास केसोदास भू अकाश गति ॥
वदन मदन कैसो श्री जू को सदन जहॅ,
सोदर सुभोदर दिनेस जू को मीत अति ।
सीता जू के मुख सुखमा की उपमा को
कहि कोमल न कमल अमल न रजनिपति ॥

—कविवर केशवदास

यदि अभिनिविष्ट चित्त से इस विषय मे विचार किया जावे तो स्पष्टतया यह बात हृदयङ्गम होगी कि सस्कृत-शब्दो के समादर और प्राकृत शब्दो मे अप्रीति का मुख्य कारण बौद्ध-धर्म्म को पराजित कर पुन वैदिक-धर्म्म का प्रतिष्ठा-लाभ करना है, जिसने संस्कृत की ममता पुन जागरित कर दी । जब वैदिक-धर्म्म के साथ-साथ संस्कृत-भाषा का फिर आदर हुआ, तब यह असम्भव था कि प्राकृत शब्दो के स्थान पर फिर सस्कृत-शब्दो से अनुराग न प्रकट किया जाता। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा का त्याग असम्भव था, किन्तु यह सम्भव था कि उसमें उपयुक्त संस्कृत-शब्द ग्रहण कर लिये जावे । निदान उस काल और उसके परवर्त्ती काल के कवियो की रचनाये मैने जो ऊपर उद्धृत की है उनमे आप ये ही बाते पावेगे।

प्राकृत, कोमल, कान्त और मधुर होकर भी क्यो त्यक्त हुई? इस लिये कि सर्वसाधारण का सस्कार और हृदय उसके अनुकूल न रहा, इस लिये कि वह बोलचाल की भापा से दूर जा पडी और बोधगम्य न रही। सस्कृत के शब्द बोलचाल की भापा से और भी दूर पड गये थे, और वह भी बोधगम्य नहीं थे, किन्तु धार्मिक-संस्कार ने उसके साथ सहानुभूति की, और इस सहानुभूति-जनित-हृदय-ममता ने उसको पुन समादर का पात्र दिया। एक बात और है—मुख-सुविधा और श्रवन-सुखदाता मानसिक श्रम के सम्मुख आदृत और वांछनीय नही होती, और कान्तता एवं कोमलता धार्मिक किवा जाति-भापा-मूलक-सस्कार और तज्जनित-हृदय-ममता के सामने स्थान और सम्मान नही पाती। मुख और श्रवण मन के अनुचर है। जिस कविता के पठन करने मे मुख को सुविधा हुई, सुनने मे कान को आनन्द हुआ, किन्तु समझने मे मन को श्रम करना पडा, तो वह कविता अवश्य उद्वेगकर होगी, और यदि अपार श्रम करके भी मन उसको न समझ सका तो उसकी कान्तता और कोमलता उसकी दृष्टि मे कठोरता, दुरूहता और जटिलता की मूर्ति छोड और क्या होगी? इसके विपरीत वह यदि लिखने पढने किवा बोलचाल की भापा की निकटवर्त्तिनी हो, मन के श्रम का आधार न हो, और उसमे मुख-सुविधाकारक अथच श्रवण-सुखद शब्द पर्याप्त न भी पाये जावे तो भी वह कविता आदृत और गृहीत होगी, और उसके श्रवण-कटु एव मुख-असुविधाकारक शब्द कोमल और कान्त बन जावेगे, क्योकि सुविधा ही प्रधान है।

जब इस व्यापार मे धार्मिक किवा जातिभापा-मूलक सस्कार भी आकर सम्मिलित हो जाता है तब इसका रग और गहरा हो जाता है। ब्रज भापा ऐसी मधुर भापा दूसरी नही मानी जाती, किन्तु कुछ लोगो का विचार है कि फारसी के समान मधुर भापा ससार

मे दूसरी नहीं है। इस भाषा का प्रसिद्ध विद्वान् और कवि अली-हजी जब हिन्दुस्तान मे आया, तो उसको व्रजभाषा के माधुर्य्य की प्रशसा सुन कर कुछ स्पर्द्धा हुई। वह व्रज-प्रान्त मे इस कथन की सत्यता की परीक्षा के लिये गया। मार्ग मे उसको एक ग्वालिन जल ले जाते हुए मिली, जिसके पीछे पीछे एक छोटी कोमल बालिका यह कहती हुई दौड़ रही थी, 'मायरे माय गैल साँकरी पगन मै काँकरी गडतु हैं।' इस बालिका का कथन सुनकर वे चक्कर में आ गये और सोचा कि जहाँ की गँवार बालिकाओं का ऐसा सरस भाषण है, वहाँ के कवियो की वाणी का क्या कहना। परन्तु उनके सहधर्मियो ने इसी परम लावण्यवती, कोमला अथच मनोहरा व्रज-भाषा का क्या समादर किया, उन्होने चुन-चुन कर इसके शब्दो को अपनी कविता मे से निकाल बाहर किया और उनके स्थान पर फारसी अरबी के अकोमल और श्रुति-कटु शब्दो को भर दिया।

सबसे पहले मुसलमान कवि जिन्होने हिन्दी-भाषा मे कविता करने के लिये लेखनी उठाई, अमीर खुसरो थे। यह कवि तेरहवे शतक मे हुआ है। इसकी कविता का रंग देखिये —

खालिकबारी सिरजनहार। वाहिद एक वेदाँ करतार।
रसूल पयम्बर जान बसीठ। यार दोस्त बोली जा ईठ॥
जेहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल। दुराय नैना बनाय बतियाँ।
किताबे हिजरा न दारम् ऐ जाँ। न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

दक्षिण का सादी नामक एक आदिम उर्दू कवि बतलाया जाता है। उसकी कविता का नमूना यह है—

हम तुम्हन को दिल दिया, तुम दिल लिया औ दुख दिया।
हम यह किया तुम वह किया, ऐसी भली यह पीत है॥

वली भी उर्दू का आदिम कवि है, उसकी कविता का भी उदाहरण अवलोकन कीजिये —

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन ।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सो ।।

इन दोनो के उपरान्त ही शाह मुबारक का समय है, उसकी कविता का ढग यह है —

मत कहु सेती हाथ मे ले दिल हमारे को ।
जलता है क्यो पकड़ता है जालिम अँगारे को ।।

ऊपर की कविताओ से प्रकट है कि पहले मुसलमान कवियो ने जो रचना की है उसमे या तो हिन्दी-पदो और शब्दो को बिल्कुल फारसी पदो या शब्दो से अलग रखा है, या फारसी या अरबी शब्दो को मिलाया है तो बहुत ही कम, अधिकांश हिन्दी-शब्दो से ही काम लिया है, किन्तु आगे चल कर समय ने पलटा खाया और निम्नलिखित प्रकार की कविता होने लगी —

नूर पैदा है जमाले यार के साया तले ।
गुल है शरमिन्दा रुखे दिलदार के साया तले ।।

—नासिख

आफतावे हश्र है या रब कि निकला गर्म गर्म ।
कोई आँसू दिलजलो के दीदये गमनाक से ।।
न लौह गोर पै मस्तो के हो न हो तावीज ।
जो हो तो खि़श्ते खुमे मै कोई निशाँ के लिये ।।

—जौक

खमोशी मे निहाँ खूँगश्ता लाखो आरजूये हैं ।
चिरागे़ मुर्दा हूँ मै बेजबाँ गोरे गरीबाँ का ।।
नक्श नाज़े बुतेतन्नाज ब आगोश रकीब ।
पायताऊस पये जामये मानी माँगे ।।
यह तूफागाह जोशेइज्तिरावे शाम तनहाई ।

शोआये आफ्तावे सुब्हमहशरतारे बिस्तर है ॥
लवे ईसा की जुम्बिश करती है गहवारा जुंबानी ।
कयामत कुश्तये लाले बुता का ख्वावे सगी है ॥

—गालिब

अब प्रश्न यह है कि वह कौन सी बात है कि जिसके कारण ब्रज भाषा का, कि जिसके माधुर्य्य पर अलीहज़ीं ऐसा उदार हृदय पारसी कवि लोट पोट हो गया था, पीछे मुसलमान कवियो द्वारा तिरस्कार हुआ। क्यो उन्होने उसके कोमल कान्त पदोके स्थान पर फ़ारसी और अरवी के श्रुति-कटु शब्दो का व्यवहार करना उचित समझा? क्यो उन्होने ब्रज भाषा के सुविधापूर्वक उच्चारित वाले ग, ख, ज, फ, इत्यादि अक्षरो से निर्मित शब्दो के स्थान पर गैन, खे जे फे इत्यादि श्रुतिकठ-विदीर्णकारी अक्षरो से मिलित शब्दो का आदर किया? इसका उत्तर इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि अरवी और फारसी भाषा मे उसके अक्षरो और शब्दो मे, उनके धार्मिक और जातिभाषामूलक सस्कार ही ने उन्हे उनसे आदृत बनाया, इनमे जो उनकी हृदय-ममता है उसीने उन्हे इनको अगीकृत करने के लिये वाध्य किया।

जो कुछ अब तक कहा गया, उससे यह बात भली प्रकार सिद्ध हो गई कि किसी पदावली की कोमलता, कान्तता, मधुरता का वहुत कुछ सम्बन्ध, संस्कार और हृदय से है। इस अवसर पर यह कहा जा सकता है कि कोमलता, कान्तता इत्यादि का सम्बन्ध हृदय या संस्कारसे नहीं है, वास्तव मे उसका सम्बन्ध पदावली से ही है। हॉ, उसके आदृत या अनादृत होने का सम्बन्ध निस्सन्देह सस्कार और हृदय से है। क्योकि यदि दो बालक ऐसे उपस्थित किये जावे कि जिनमे एक सुन्दर हो और दूसरा असुन्दर, तो निज अपत्य होने के कारण असुन्दर बालक मे पिता की हृदय-

ममता हो सकती है, उसका स्वाभाविक संस्कार उसे निज पुत्र को आदर और सम्मान दृष्टि से देखने के लिये वाध्य कर सकता है, किन्तु इससे वह सुन्दर नहीं हो जावेगा, सुन्दर बालक को ही सुन्दर कहा जावेगा। इसी प्रकार किसी अकान्त और अकोमल पद को किसीका संस्कार और हृदय-भाव कान्त और कोमल नहीं बना सकता, क्योंकि न्याय दृष्टि कोमल और कांत को ही कोमल और कांत कह सकती है। जब सबको अपना ही अपत्य सुन्दर ज्ञात होता है तो इससे यह सिद्ध है कि उसको दूसरे के अपत्य के सौन्दर्य्य की अनुभूति नहीं होती, और जब अनुभूति नहीं होती, तो उसकी दृष्टि मे उसका सौन्दर्य्य ही क्या? इसी प्रकार जब किसी पदावली की कान्तता, मधुरता और कोमलता की अनुभूति ही नहीं होती, तो उसकी कान्तता, मधुरता, कोमलता ही क्या? वास्तव मे बात यह है कि ऐसे स्थानो पर संस्कार और हृदय ही प्रधान होता है।

पीयूषवर्षी कवि बिहारीलाल के निम्नलिखित दोहे कितने सुन्दर और मनोहर है—

बडे बडे छवि छाकु छकि छिगुनी छोर छुटैन।
रहे सुरँग रँग रँग वही, नहँदी महँदी नैन॥
'सतर भौंह रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि।
कहा कहौं है जात हरि हेरि हँसौंही डीठि॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करैं भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय॥
यक भीगे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करे, नै वै चढती बार॥

परन्तु आधुनिक पाठशालाओ के विद्यार्थियो और वर्त्तमान खडी बोली के अनुरागियो के सामने इनको रखिये, देखिये वह

इनका कितना आदर करते हैं। मैंने देखा है कि आज कल के खडी बोली के रसिक व्रज-भाषा की कविता से उतना ही घवड़ाते हैं, जितना कि वह किसी अपरिचित किंवा अल्प परिचित भाषा की कविता से घवडा सकते है। कारण इसका क्या है? कारण इसका यही है कि लिखने पढने और बोलचाल की भाषा से वह दूर पड़ गई है। इन दोहो का माधुर्य्य, लालित्य और कोमलता अथच कान्तता निर्विवाद है, किन्तु जब वह इनको समझते ही नहीं, यदि समझने की चेष्टा करते हैं तो मन को विशेष श्रम करना पड़ता है, फिर उनकी दृष्टि मे इनकी कोमलता और कान्तता ही क्या? किन्तु यदि इन दोहो के स्थान पर कोई सस्कृत गर्भित खडी बोली की कविता रख दीजिये, तो देखिये वह उसको पढ़ कर कितना मुग्ध होते है और कितना आनन्दानुभव करते हैं, अतएव उनको उसीमे कोमलता और कान्तता दृष्टिगत होती है। और यही कारण है कि आजकल सस्कार और हृदय-ममता दोनो खड़ी बोली की ओर आकर्पित हो गई है, कि जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण खड़ी बोली की कविता का समधिक प्रचार है।

जिन प्राचीन विद्वान् सज्जनो का संस्कार व्रज भाषा के माधुर्य्य और कान्तता के विषय मे दृढ हो गया है, और इस कारण उसकी ममता उनके हृदय मे वद्धमूल है, वे यदि कहे कि खड़ी बोली की कविता कर्कश होती है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या। ऐसे ही जिन्होने व्रज भाषा का अभूतपूर्व रस आस्वादन नहीं किया है, जो व्रज भाषा की रचना मे दुर्वोधता उपलब्ध करते है, वे यदि खड़ी बोली का समादर और प्यार करे और उसे ही कान्त और कोमल समझे तो इसमे भी कोई आश्चर्य्य नहीं, सदा ऐसा ही होता आया है और आगे भी ऐसा ही होगा। अब मुझे केवल इतना ही कहना है कि समय का प्रवाह खड़ी बोली के अनुकूल है, इस समय खडी

बोली मे कविता करने से अधिक उपकार की आशा है। अतएव मैंने भी 'प्रियप्रवास' को खडी बोली मे ही लिखा है। सभव है कि उसमे अपेक्षित कोमलता और कान्तता न हो, परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं हो सकता कि खड़ी बोली मे सुन्दर कविता हो ही नहीं सकती। वास्तव बात यह है कि यदि उसमे कान्तता और मधुरता नहीं आई है तो यह मेरी विद्या, बुद्धि और प्रतिभा का दोष है, खड़ी बोली का नहीं।

ग्रन्थ का विषय

इस ग्रन्थ का विषय श्रीकृष्णचन्द्र की मथुरा-यात्रा है, और इसीसे इसका नाम 'प्रियप्रवास' रखा गया है। कथा-सूत्र से मथुरा-यात्रा के अतिरिक्त उनकी और व्रज-लीलायें भी यथास्थान इसमे लिखी गई है। जिस विषय के लिखने के लिये महर्षि व्यासदेव, कवि-शिरोमणि सूरदास और भाषा के अपर मान्य कवियो तथा विद्वानो ने लेखनी की परिचालना की है, उसके लिये मेरे जैसे मदधी का लेखनी उठाना नितान्त मूढता है। परन्तु जैसे रघुवश लिखने के लिये लेखनी उठा कर कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा था, "मणौवज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति.।" उसी प्रकार इस अवसर पर मैं भी स्वच्छ हृदय से यही कहूँगा "अति अपार जे सरित वर, जो नृप सेतु कराहि। चढ़ि पिपीलिका परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहि॥" रहा यह कि वास्तव मे मै पार जा सका हूँ या बीच ही मे रह गया हूँ, किंवा उस पावन सेतु पर चलने का साहस करके निन्दित बना हूँ, इसकी मीमांसा विबुध जन करे। मेरा विचार तो यह है कि मैंने इस मार्ग मे भी अनुचित दुस्साहस किया है, अतएव तिरस्कृत और कलकित होने की ही आशा है। हॉ, यदि मर्म्मज्ञ विद्वज्जन इसको उदार दृष्टि से पढ कर उचित संशोधन करेंगे, तो आशा है कि किसी

समय में इस ग्रन्थ का विषय भी रसिकों के लिये आनन्द-कारक होगा।

हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते है, उनका चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है तो हम उसकी प्रति पंक्ति मे या न्यून से न्यून उसके प्रति पृष्ठ मे ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते है, जिसमें उसके ब्रह्मत्व का निरूपण हो। जो सज्जन इस विचार के हो, वे मेरे प्रेमाम्बुप्रश्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह और प्रेमाम्बुवारिधि नामक ग्रन्थों को देखे; उनके लिये यह ग्रन्थ नहीं रचा गया है। मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ मे एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म कर के नहीं। अवतारवाद की जड़ मै श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक मानता हूँ "यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्व ममतेजोशसभवम्", अतएव जो महापुरुष है, उसका अवतार होना निश्चित है। मैंने भगवान् श्रीकृष्ण का जो चरित अंकित किया है, उस चरित का अनुधावन करके आप स्वय विचार करे कि वे क्या थे, मैंने यदि लिख कर आपको बतलाया कि वे ब्रह्म थे, और तब आपने उनको पहचाना तो क्या बात रही। आधुनिक विचारो के लोगो को यह प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति-पंक्ति मे तो भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखते चले और, चरित्र लिखने के समय "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तु समर्थ प्रभु." के रंग मे रँग कर ऐसे कार्य्यों का कर्त्ता उन्हे बनावे कि जिनके करने मे एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे। सभव है कि मेरा यह विचार समीचीन न समझा जावे, परन्तु मैंने उसी विचार को सम्मुख रख कर इस ग्रन्थ को लिखा है, और कृष्णचरित को इस प्रकार अंकित किया है जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो सके। आशा है कि आप लोग दयार्द्र हृदय से मेरे उद्देश्य के

समझने की चेष्टा करेंगे और मुझको वृथा वाग्बाण का लक्ष्य न बनावेंगे।

वर्णन-शैली

रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। कोई संक्षेप वर्णन को प्यार करता है कोई विस्तृत वर्णन को। किसी को कालिदास की प्रणाली प्रिय है, किसी को भवभूति की। सक्षेप वर्णन से जो हृदय पर क्षणिक गहरा प्रभाव पडता है कोई उसको आदर देता है, कोई उस विस्तृत वर्णन से मुग्ध होता है, जिसमे कि पूरी तौर पर रस का परिपाक हुआ हो। निदान किसी ग्रन्थ की वर्णन-शैली का प्रभाव किसी मनुष्य पर उसकी रुचि के अनुसार पड़ता है। जो विस्तृत वर्णन को नही प्यार करता वह अवश्य किसी ग्रन्थ के विस्तृत वर्णन को पढ कर ऊब जावेगा, इसी प्रकार जिसको किसी रस का सक्षेप वर्णन प्रिय नही, वह अवश्य एक ग्रन्थ के सक्षेप वर्णन को पढ कर अतृप्त रह जावेगा। और यही कारण है कि प्रतिष्ठित ग्रन्थकारो की समालोचनाये भी नाना रूपो मे होती है। मैने अपने ग्रन्थ मे वर्णन के विषय मे मध्य-पथ ग्रहण किया है, किन्तु इस दशा मे भी सभव है कि किसी सज्जन को कोई प्रसग संक्षेप मे वर्णन किया जान पडे और किसी को कोई कथा भाग अनुचित विस्तार से लिखा गया ज्ञात हो। मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँगा, यदि ग्रन्थ के सहृदय पाठकगण इस विषय मे मुझे समुचित सम्मति देगे, जिसमे कि दूसरी आवृत्ति में मै अपने वर्णनो पर उचित मीमासा कर सकूँ।

कवितागत कतिपय शब्द

अब मै इस ग्रन्थ की कविता में व्यवहृत किये गये कुछ-शब्दो के विषय मे विचार करना-चाहता हूँ। सब भाषाओं मे गद्य की भाषा से पद्य की भाषा मे कुछ अन्तर होता है, कारण यह है कि

छन्द के नियम मे बँध जाने से ऐसी अवस्था प्राय उपस्थित हो जाती है, कि जब उसमे शब्दो को तोड-मरोड कर रखना पडता है, या उसमें कुछ ऐसे शब्द सुविधा के लिये रख देने पड़ते हैं, जो गद्य मे व्यवहृत नहीं होते। यह हो सकता है कि जो शब्द तोड या मरोड़ कर रखना पड़े वह, या गद्य मे अव्यवहृत शब्द कविता मे से निकाल दिया जावे, परन्तु ऐसा करने मे बडी भारी कठिनता का सामना करना पड़ता है; और कभी-कभी तो यह दशा हो जाती है कि ऐसे शब्दो के स्थान पर दश शब्द रखने से भी काम नहीं चलता। इस लिये कवि उन शब्दो को कविता मे रखने के लिये बाध्य होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि उन शब्दो के पर्य्यायवाची दूसरे शब्द उसी भाषा मे मौजूद होते हैं, और यदि वे शब्द उन शब्दो के स्थान पर रख दिये जावे, तो किसी शब्द को विकलांग बना कर या गद्य मे अव्यवहृत शब्द रखने के दोष से कवि मुक्त हो सकता है, परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी कवि को समय पर वे शब्द स्मरण नहीं आते, और वह विकलांग अथवा गद्य मे अव्यवहृत शब्द रख कर ही काम चलाता है। और यही कारण है कि गद्य की भाषा से पद्य की भाषा मे कुछ अन्तर होता है। कवि-कर्म्म बहुत ही दुरूह है। जब कवि किसी कविता का एक चरण निर्माण करने मे तन्मय होता है, तो उस समय उसको बहुत ही दुर्गम और संकीर्ण मार्ग मे होकर चलना पड़ता है। प्रथम तो छन्द की गिनी हुई मात्रा अथवा गिने हुए वर्ण उसका हाथ पॉव बॉध देते है, उसकी क्या मजाल कि वह उसमे से एक मात्रा घटा या बढा देवे, अथवा एक गुरु को लघु के स्थान पर या एक गुरु के स्थान पर एक लघु को रख देवे। यदि वह ऐसा करे तो वह छंद-रचना का अधिकारी नहीं। जो इस विषय मे सतर्क हो कर वह आगे बढ़ा, तो हृदय के भावो

और विचारो को उतनी ही मात्रा वा उतने ही वर्णों मे प्रकट करने का झगड़ा सामने आया, इस समय जो उलझन पड़ती है, उसको कवि-हृदय ही जानता है। यदि विचार नियत मात्रा अथवा वर्णों में स्पष्टतया न प्रकट हुआ, तो उसको यह दोष लगा कि उसका वाच्यार्थ साफ नही, यदि कोमल वर्णों मे वह स्फुरित न हुआ, तो कविता श्रुति-कटु हो गई। यदि उसमे कोई घृणाव्यञ्जक शब्द आ-गया तो अश्लीलता की उपाधि शिर पर चढ़ी, यदि शब्द तोड़े-मरड़े गये तो च्युत-दोष ने गला दबाया, यदि उपयुक्त शब्द न मिले तो सौ सौ पलटा खाने पर भी एक चरण का निर्माण दुस्तर हो गया, यदि शब्द यथास्थान न पड़े तो दूरान्वय दोप ने ऑखे दिखायी। कहॉ तक कहे, ऐसी कितने बातें हैं, जो कविता रचने के समय कवि को उद्विग्न और चिन्तित करती हैं, और यही कारण है कि प्रसिद्ध 'वहारदानिश' ग्रन्थ के रचयिता ने बड़ी सहृदयता से एक स्थान पर यह शेर लिखा है —

बराय पाकिये लफ़्जे शबे बरोज आरन्द ।
कि मुर्ग़ माही बाशन्द खुफता ऊबेदार ॥

इसका अर्थ यह है कि "कवि एक शब्द को परिष्कृत करने के लिये उस रात्रि को जाग कर दिन मे परिणत करता है, जिसको चिड़ियॉ और मछलियॉ तक निद्रा देवी के शान्ति-मय अङ्क मे शिर रख कर व्यतीत करती है।" यदि कवि-कर्म्म इतना कठोर न होता, तो कवि-कुल-गुरु कालिदास जैसे असाधारण विद्वान् और विद्या-बुद्धि-निधान, 'त्रयम्बकम् संयमिन ददर्श' इस श्लोक-खण्ड मे 'त्र्यम्बकम्' के स्थान पर 'त्रयम्बकम्' न लिख जाते, जो कि 'त्र्यम्बकम्' का अशुद्ध रूप है। यदि इस त्रयम्बकम् के स्थान पर वह त्रिलोचनम् लिखते तो कविता सर्वथा निर्दोष होती, किन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया, जिससे यह सिद्ध होता है, कि कविता करने के समय बहुत

चेष्टा करने पर भी उनको यह शुद्ध और कोमल शब्द स्मरण नही आया, और इसीसे उन्होने एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जो च्युत-दोष से दूषित है। किसी किसीने लिखा है कि उस काल मे एक ऐसा व्याकरण प्रचलित था कि जिसके अनुसार 'त्रयम्बकम्' शब्द भी अशुद्ध नही है, किन्तु यह कथन ऐसे लोगो का उस समय तक मान्य नही है, जब तक कि वह व्याकरण का नाम बतला कर उस सूत्र को भी न बतला दे कि जिसके द्वारा यह प्रयोग भी शुद्ध सिद्ध हो। इस विचार के लोग यह समझते है कि यदि कवि-कुल-गुरु कालिदास की रचना मे कोई अशुद्धि मान ली गई, तो फिर उनकी विद्वत्ता सर्वमान्य कैसे होगी। उनकी वह प्रतिष्ठा जो ससार की दृष्टि मे एक चकितकर वस्तु है, कैसे रहेगी। अतएव येनकेन प्रकारेण वे लोग एक साधारण दोष को छिपाने के लिये एक बहुत बड़ा अपराध करते है, जिसको विबुध समाज नितान्त गर्हित समझता है।

इस विचार के लोग भाव-राज्य के उस मनोमुग्धकर-उपवन पर दृष्टि नही डालते, कि जिसके अंक मे सदाशय और सद्विचार रूपी हृदय-विमोहक प्रफुल्ल-प्रसूनो के निकटवर्त्ती दो चार दोष-कण्टको पर कोई दृष्टिपात ही नही करता। कवि किसी भाषा-हीन शब्द को यथाशक्ति तो रखता नही; जब रखता है तो विवश होकर रखता है। जिसकी रचना अधिकांश सुन्दर है, जिसके भाव लोक-विमुग्धकर और उपकारक है, उसकी रचना मे यदि कही कोई दोष आ जावे तो उस पर कौन सहृदय दृष्टिपात करता है, और यदि दृष्टिपात करता है तो वह सहृदय नही।

"जड़ चेतन गुन दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
सत हस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥"

संसार मे निर्दोष कौन वस्तु है? सभी मे कुछ न कुछ दोष है,

जो शरीर बड़ा प्यारा है, उसीको देखिये, उसमे कितना मल है। चन्द्रमा में कलक है, सूर्य्य मे धव्वे है, फूल मे कीड़े है, तो क्या ये ससार की आदरणीय वस्तुओ मे नहीं है? वरन् जितना इनका आदर है अन्य का नहीं है। कवि-कर्म्म-कुशल कालिदास की रचना इतनी अपूर्व और प्यारी है, इतनी सरस और सुन्दर है, इतनी उपदेशमय और उपकारक है, कि उसमे यदि एक दोष नहीं सैकड़ो दोष होवे, तो भी वे स्निग्ध-पत्रावली-परिशोभित, मनोरम-पुष्प-फल-भार-विनम्र पादप के, दश पॉच नीरस, मलीन, विकृत पत्तो समान दृष्टि डालने योग्य न होगे। फिर उन दोषों के विषय मे वात वनाने से क्या लाभ? मै यह कह रहा था कि कवि कर्म्म नितान्त दुरूह है। अलौकिक प्रतिभाशाली कालिदास जैसे जगन्मान्य कवि भी इस दुरूहता-वारिधि-सन्तरण मे कभी-कभी क्षम नहीं होते। जिनका पदानुसरण करके लोग साहित्य-पथ मे पॉव रखना सीखते हैं, उन हमारे सस्कृत और हिन्दी के धुरन्धर और मान्य साहित्याचार्य्यों की मति भी इस सकीर्ण स्थल पर कभी-कभी कुण्ठित होती है, और जब ऐसो की यह गति है तो साधारण कवियो की कौन कहे? मैं कवि कहलाने योग्य नहीं, टूटी-फूटी कविता करके कोई कवि नहीं हो सकता, फिर यदि मुझसे भ्रम प्रमाद हो, यदि मेरी कविता मे अनेक दोष होवे तो क्या आश्चर्य! अतएव आगे जो मै लिखूँगा, उसके लिखने का यह प्रयोजन नहीं है, कि मै रूपान्तर से अपने दोषो को छिपाना चाहता हूँ—प्रत्युत, उसके लिखने का उद्देश्य कतिपय शब्दो के प्रयोग पर प्रकाश डालना मात्र है।

कतिपय क्रिया

हिन्द गद्य मे देखने के अर्थ में अधिकाश देखना धातु के रूपो का ही व्यवहार होता है, कोई-कोई कभी अवलोकना, विलोकना, दरसना, जोहना, लखना धातु के रूपो का भी प्रयोग करते हैं,

किन्तु इसी अर्थ के द्योतक निरखना और निहारना धातु के रूपो का व्यवहार बिल्कुल नहीं होता। अतएव इन कतिपय क्रियाओ के रूपों का व्यवहार कोई कोई खड़ी बोली के पद्य मे करना उत्तम नहीं समझते, किन्तु मेरा विचार है कि इन कतिपय क्रियाओ से भी यदि खडी बोली के पद्यो मे सकीर्ण स्थलो पर काम लिया जावे तो उसके विस्तार और रचना मे सुविधा होगी। मैं ऊपर दिखला चुका हूँ कि गद्य की भाषा से पद्य की भाषा मे कुछ अन्तर होता है, अतएव इनको ब्रज भाषा की क्रिया समझ कर तज देना मुझे उचित नहीं जान पड़ता और इसी विचार से मैंने अपनी कविता मे देखने के अर्थ मे इन क्रियाओ के रूपो का व्यवहार भी उचित स्थान पर किया है। ऐसी ही कुछ और क्रियाये है, जो ब्रज भाषा की कविता मे तो निस्सन्देह व्यवहृत होती है, परन्तु खड़ी बोली के गद्य मे इनका व्यवहार सर्वथा नहीं होता, या यदि होता है तो बहुत न्यून। किन्तु मैंने अपनी कविता मे इनको भी निस्संकोच स्थान दिया है। मेरा विचार है कि इन क्रियाओ के व्यवहार से खड़ी बोली का पद्य-भाण्डार सुसम्पन्न और ललित होने के स्थान पर क्षति-ग्रस्त और असुन्दर न होगा। ये क्रियाये लसना, विलसना, रचना, विराजना, सोहना, बगरना, बलजाना, तजना इत्यादि है। आधुनिक खड़ी बोली के कविता-लेखको मे से यद्यपि कई एक अपर सज्जनो को भी इनको काम मे लाते देखा जाता है, किन्तु इन लोगो में अधिकांश वे सज्जन है, जो ब्रज भाषा से कुछ परिचित है। जिन्होने ब्रज भाषा का कोमलकान्त-वदन बिल्कुल नहीं देखा, उनकी कविता मे इन क्रियाओ का प्रयोग कथञ्चित् होता है। मै अपने कथन की पुष्टि गद्य के अवतरणो और आधुनिक वर्त्तमान कवियो की कविताओ का अपेक्षित अंश उठा कर, कर सकता हूँ—किन्तु ऐसा करने मे यह लेख बहुत विस्तृत हो जावेगा। ब्रज भाषा की क्रियाओ

का प्रयोग खडी बोली मे उसके नियमानुसार होना चाहिये, ब्रज भाषा के नियमानुसार नही, अन्यथा वह अवैध और भ्रामक होगा।

कुछ वर्णों का हलन्त प्रयोग

हिन्दी भाषा के कतिपय सुप्रसिद्ध गद्य-पद्य लेखको को देखा जाता है कि ये इसका, उसका, इत्यादि को इस्का, उस्का इत्यादि और करना, धरना, इत्यादि को कर्ना, धर्ना, इत्यादि लिखने के अनुरागी हैं। पद्य मे ही संकीर्ण स्थलो पर वे ऐसा नही करते, गद्य में भी इसी प्रकार इन शब्दो का व्यवहार वे उचित समझते है। खड़ी बोली की कविता के लब्धप्रतिष्ठ प्रधान लेखक श्रीयुत पं० श्रीधर पाठक लिखित नीचे की कतिपय गद्य-पद्य की पंक्तियो को देखिये —

"यह एक प्रेम-कहानी आज आपको भेट की जाती है—निस्सन्देह इस्में ऐसा तो कुछ भी नहीं जिस्से यह आपको एक ही वार में अपना सके।"

"नम्रभाव से कीनी उस्ने विनय समेत प्रणाम"
"चला साथ योगी के हर्षित जहँ उस्का विश्राम"
"नहीं बडा भण्डार मढी में कीजै जिस्की रखवाली"
"दोनो जीव पधारे भीतर जिन्के चरित अमोल"

—एकान्तवासी योगी

हमारे उत्साही नवयुवक पण्डित लक्ष्मीधर जी वाजपेयी ने भी अपने 'हिन्दी मेघदूत' मे कई स्थानों पर इस प्रणाली को ग्रहण किया है, नीचे के पद्यो को अवलोकन कीजिये—

"उस्का नीला जल पट तट श्रोणि से तू हरेगा"
"उस्के शातीदर शिखर पै तू लखेगा सखा यों"
"जिस्की सेवा उचित रति के अंत में मत्करो से"

वाजपेयी जी की कविता वर्णवृत्त मे लिखी गई है, जिसमे लघु

गुरु नियत संख्या से आते है, इस लिये यदि उन्होने दो दीर्घ रखने के लिये कविता मे उसका, उसके, जिसकी के स्थान पर उस्का, उस्के, जिस्की लिखा तो उनका यह कार्य्य विवशतावश है। ऐसे स्थलो पर यह प्रयोग अधिक निन्दनीय नहीं है, किन्तु गद्य मे अथवा वहाँ, जहाँ कि शुद्ध रूप मे ये शब्द लिखे जा सकते हैं, इन शब्दो का सयुक्त रूप मे प्रयोग मै उचित नहीं समझता, इसके निम्न लिखित कारण है'—

१—यह कि गद्य की भाषा मे जो शब्द जिस रूप मे व्यवहृत होते है, मुख्य अवस्थाओ को छोडकर पद्य की भाषा मे भी उन शब्दो का उसी रूप मे व्यवहृत होना समीचीन, सुसंगत और बोधगम्य होगा।

२—यह कि उसको, जिसमे, जिसको इत्यादि शब्दो को प्राचीन और आधुनिक अधिकांश गद्य-पद्य-लेखक इसी रूप मे लिखते आते है, फिर कोई कारण नहीं है कि इस प्रचलित प्रणाली का बिना किसी मुख्य हेतु के परित्याग किया जावे।

३—यह कि हिन्दी भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति यथा सभव सयुक्ताक्षरत्व से बच कर रहने की है, अतएव उसके सर्वनामो इत्यादि को जो कि समय-प्रवाह-सूत्र से संयुक्त रूप मे नहीं हैं, संयुक्त रूप मे परिणत करना दुर्बोधता और क्लिष्टता सम्पादन करना होगा।

अब रही यह बात कि यदि वास्तव मे हिन्दी मे कुछ अकारान्त वर्ण, शब्द-खण्ड और धातु-चिह्न के प्रथम के अक्षर हलन्तवत् बोले जाते है, तो कोई कारण नहीं है, कि उच्चारण के अनुसार वे लिखे न जावे। इस विषय मे मेरा यह निवेदन है कि इन वर्णों, शब्द-खण्डो और धातु-चिह्नो के प्रथम के अक्षरो का ऐसा उच्चारण हिन्दी के जन्म-काल से ही है, या कुछ काल से हो गया है? और यदि जन्मकाल से ही है, तो इसके व्याकरण-रचयिताओ और

लेखकों ने इस विषय में अमनोनिवेश क्यों किया ? यदि उन्होंने मनोनिवेश नहीं भी किया तो एक वास्तव और युक्तिसंगत बात के ग्रहण करने में इस समय संकोच क्या ? और यदि उसके ग्रहण में संकोच उचित नहीं, तो केवल पद्य में ही वे क्यों ग्रहण किये जावें, गद्य में भी क्यों न गृहीत हों ? इन प्रश्नों के उत्तर में अधिक न लिखकर मैं केवल इतना ही कहूँगा कि इन वर्णों, शब्द-खंडों और धातु-चिह्नों के प्रथम के अक्षरों को भाषाव्याकरण कर्त्ताओं ने स्वर-संयुक्त माना है, हलन्तवत् नहीं। क्योंकि हलन्तवत् क्या ? कोई व्यञ्जन या तो स्वर-संयुक्त होगा या हलन्त, और जब उन्होंने उनको स्वर-संयुक्त मान कर ही उनके सब रूप बनाये हैं, तो अब उनके विषय में एक नवीन पद्धति स्थापित करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि व्याकरण उच्चारण के अनुकूल ही बनता है, उसके प्रतिकूल नहीं। समय पाकर उच्चारण में भिन्नता अवश्य हो जाती है और उस समय व्याकरण भी बदलता है, परन्तु इन वर्णों, शब्द-खंडों और धातु-चिह्नों के प्रथम के अक्षर के लिये अभी वे दिन नहीं आये हैं। सोचिये, यदि इसको, जिसको इत्यादि को इस्को, जिस्को लिखें और करना, धरना, चलना इत्यादि को कर्ना, धर्ना, चल्ना इत्यादि लिखने लगें, तो हिन्दी भाषा में कितना बड़ा परिवर्त्तन उपस्थित होगा।

समादरणीय पाठक जी का एक लेख खड़ी बोली की कविता पर प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य्यविवरण में मुद्रित हुआ है, उसके पृष्ठ ३२ में एक स्थान पर उन्होंने इस विषय पर विचार करते हुए ऐसे शब्दों के विषय में यह लिखा है —

"भाषा के शील संरक्षण की दृष्टि से पद्य लिखने में आवश्यकतानुसार बोलने की रीति अवलम्बन करने से कोई आपत्ति तो नहीं उपस्थित होती।"

'इस सब जगडब्बाल के प्रदर्शन से मेरा अभिप्राय यह नहीं है, कि हमारी भाषा के पद्य मे इस प्रकार शब्द व्यवहार करना चाहिये, किन्तु बुधजनो के विचार के लिये यह मेरी केवल एक प्रस्तावना मात्र है।"

ये दोनो वाक्य यह स्पष्ट बतला देते है कि प्रशंसित पाठक जी भी गद्य मे इस प्रकार शब्दो को लिखना उचित नही समझते, पद्य में भी वह आवश्यकतानुसार ऐसा प्रयोग आपत्ति-रहित मानते है। पाठक जी के निम्न लिखित वाक्यांशो से भी यही बात सिद्ध होती है।

"आज कल मैं ऐसे स्थान पर हूँ कि उदाहरण नही दे सकता।", "दूसरा वह जिसमे भाषा का यह गुण उपेक्षित सा देखने मे आता है", "मिश्रित वा खिचड़ी भाषा के पद्य मे यह योग्यता नही आ सकती", "ऐसी भाषा का प्रयोग उत्कृष्ट काव्य मे कदापि न करना चाहिये"। हि० सा० स० वि० प्रथम भाग पृष्ठ २९

"उसके मन में सर्वोत्तम है उसका ही प्रिय जन्मस्थान"

"उनके उर के मध्य मूर्खता का अंकुर भी बोता है"—श्रान्तपथिक पृष्ठ ४,१३

अब मैं यह दिखलाना चाहता हूँ कि कुछ अकारान्त वर्ण जैसे बस, अब जतन इत्यादि के स, ब, न आदि, कुछ ऐसे शब्द-खण्ड के अन्त्याक्षर जिन पर बोलने मे आघात सा पड़ता है जैसे गलबाही, मनभावना इत्यादि के गल और मन आदि, कुछ ऐसे वर्ण जो धातु-चिह्न के पहले रहते हैं जैसे करना, धरना, चलना इत्यादि के र, ल, आदि यदि आवश्यकतानुसार उच्चारण का ध्यान कर, के पद्य मे हलन्त कर लिये जावे तो उससे कुछ सुविधा होगी या नही? और ऐसे प्रयोग का हिन्दी भाषा के पद्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा? मै प्रशंसित पाठक जी के उक्त लेख मे से ही एक पद्य यहाँ उठाता हूँ, आप इसे अवलोकन कीजिये:—

पर् इत्ने पर् भी तो नहिं मन हुआ शान्त उनका।
बस् अब् क्या करना था जब जतन कोई नहिं चला।

इस पद्य मे इतने को इत्ने, पर को पर्, बस को बस् और अब को अब् किया गया है। यह संस्कृत का शिखरिणी छंद है। यगण, भगण, नगण, सगण, मगण लघु गुरु का शिखरिणी छन्द होता है। श्रुतबोध मे इसका लक्षण यह लिखा है—

यदि प्राञ्चो ह्रस्वस्तुलितकमले पञ्चगुरव.।
ततो वर्णा॰ पञ्च प्रकृतिसुकुमाराङ्गि लघव॰॥
त्रयोन्ये चोपान्त्या सुतनुजघने भोगसुभगे।
रसैरीशै यस्या भवति विरति सा शिखरिणी॥

इस लिये यदि ऊपर के दोनो चरण निम्नलिखित रीति से लिखे जावे तो निर्दोष होगे, जैसे वे लिखे गये हैं, उस रीति से लिखने मे छन्दो-भङ्ग होता है।

परित्ने पर् भी तो नहिं मन हुआ शान्त उनका।
बसब क्या कर्ना था जब जतन कोई नहिं चला॥

प्रथम प्रकार से लिखने मे पहले चरण मे दो लघु के उपरान्त चार गुरु पड़ते है, किन्तु उक्त नियमानुसार एक लघु के पश्चात् पॉच गुरु होने चाहिये। इस लिये यदि यह चरण खण्ड 'परित्ने पर भी' कर दिया जावे तो दोष निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार 'बस् अब क्या करना था। यो लिखने से दूसरे चरण के प्रथम खण्ड मे पहले तीन गुरु फिर दो लघु और बाद को दो गुरु पड़ते है, अतएव यह चरण-खण्ड भी सदोष है, यह जब यो लिखा जावे कि 'बसब क्या कर्ना था' तो ठीक होगा। किन्तु यह बतलाइये कि इस प्रकार शब्द-विन्यास कहॉ तक समुचित होगा। संस्कृत के यत्, तत् की भॉति पर को पर्, बस को बस् और अब को अब् लिख कर एक गुरु बना लेना कहॉ तक युक्ति-संगत और हिन्दी भाषा की प्रणाली के अनुकूल

है, इसको सहृदय पाठक स्वयं विचारें। इन्हीं दोनो चरणों मे मन, उनका, जव, और जतन भी हैं, किन्तु ये मन्, उन्का, जब् और जतन् नही बनाये गये। मुख्य कारण यह है कि ऐसा करने से छन्द और सदोष हो जाता, तथा उसकी भद्दता का पारा और ऊँचा चढ़ जाता। इस लिये उनके रूप परिवर्त्तन की आवश्यकता नहीं हुई। यदि यह प्रणाली भाषा पद्य मे चलाई जावे तो उसमे कितनी जटिलता और दुरूहता आ जावेगी इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं, कथित दोना वाते ही इसका पर्य्याप्त प्रमाण है। हिन्दी भाषा की प्रकृति हलन्त को प्राय सस्वर वना लेने की है। यदि उसकी इस प्रकृति पर दृष्टि न रख कर उसके सस्वर वर्णों को भी हलन्त बना कर उसे संस्कृत का रूप दिया जाने लगे तो उसका हिन्दीपन तो नष्ट हो ही जायगा, साथ ही वह संस्कृत भाषा के हलन्त वर्णों के समान संधि साहाय्य से सौंदर्य्य-सम्पादन करने के स्थान पर नितान्त असुविधामूलक पद्धति ग्रहण करेगी और अपनी स्वाभाविक सरलता खो देगी।

संस्कृत के निम्नलिखित पद्यो को देखिये, इनमे किस प्रकार हलन्त वर्णों ने सस्वर व्यञ्जन का रूप ग्रहण किया है; और इस परिवर्त्तन से इन पदो मे कितना माधुर्य्य आ गया है। हिन्दी मे किसी हलन्त वर्ण को यह सुयोग कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी नहीं है। उदाहरण के लिए नीचे की कविता के दोनो चरण ही पर्याप्त हैं।

वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमती मिवापराम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य्य वनस्थलीम्। —रघुवंश

मामपि दहत्येकायमहर्निशिमनल इवापत्यतासमुद्भव· शोक।
शून्यमिव प्रतिभाति मे जगत् अफलमिव पश्यामि राज्यम्। —कादम्बरी

जो उर्दू के ढंग का पद्य सुधी पाठक जी ने संगीत शाकुन्तल

से उठाया है, उसको भी मै नीचे लिखता हूँ, आप लोग इसे भी देखिये —

पर इस्से पूछ ले क्या इसका मन है।
तू सोचे जा न कर चिन्ता कुछ इसकी ॥

इस पद्य मे इससे को इस्से कर दिया गया है, किन्तु दोनों की ही चार मात्राये है, इस लिये इस पद्य मे यदि इस्से के स्थान पर इससे ही रहता तो भी कोई अन्तर न पड़ता जैसा कि पद्य के दूसरे चरण के इसकी, और इसी चरण के 'इसका' के इसी रूप मे लिखे जाने से कोई अन्तर नही पड़ा। यह उन्नीस मात्रा का मात्रिक छन्द है, इसके चरणो में दो दो मात्रा अधिक है। इससे जो तौल कर न पढ़ा जावे, तो इनमे छन्दोभङ्ग होता है। परन्तु यह छन्दोभङ्ग-दोष उनमे के इससे इसका, इसकी को इस्से, इस्का, इस्की कर देने से दूर नही हो सकता, क्योकि मात्रा दोनो रूपो मे ही समान है फिर उसको यह रूप देने से क्या लाभ ? हॉ, यदि वे निम्नलिखित प्रकार से लिखे जावे तो निस्सन्देह उनकी सदोषता दूर हो जावेगी, परन्तु ऐसी अवस्था मे शब्दार्थ के समझने मे कितनी उलझन होगी, यह अविदित नहीं है।

प, इससे पूछ ले क्या इसक मन है।
तु सोचे जा, न कर चिन्ता कुछिसकी ॥

सस्कृत के वर्णवृत्त और हिन्दी के मात्रिक छन्दो की नियमावली इतनी सुन्दर और तुली हुई है, और उसमे लघु गुरु वर्णों के सस्थान और मात्राओ की सख्या इस रीति से नियत की गई है कि यदि सावधानी से कार्य्य किया जावे, तो उनकी रचना मे छन्दोभङ्ग हो ही नही सकता। दूसरी बात यह कि जब पद्य-रचना हो गई तो जैसे चाहिये पढ़िये, दूसरे से पढ़वाइये, उसके पढने मे उलझन

होहीगी नहीं। क्योकि उसमे एक लघु गुरु अक्षर का हेर फेर नहीं, एक मात्रा घट बढ नहीं, फिर छन्दोभङ्ग कैसे होगा, और जब छन्दोभङ्ग नहीं होगा तो उलझन क्यो होगी? किन्तु उर्दू पद्यो की रचना वजन पर होती है, न उनमे लघु, गुरु का नियम है, न मात्राओ का; केवल कुछ वजन नियत है, उन्हीं वजनो को कैंडा मान कर उसी कैंडे पर उसमे कविता की जाती है। जैसे, एक वजन बताया गया, "मफऊलफायलातुन मफऊलफायलातुन" अब इसी वजन पर उर्दू के कवि को कविता करनी पड़ती है, उसको यह ज्ञात नहीं है कि कितने अक्षर और मात्रा से इस वजन का छन्द बनेगा। यह प्रणाली उसने अरबी और फारसी से ली है। अभ्यास एक अद्भुत वस्तु है, उससे सब कुछ हो सकता है, और उसीके द्वारा केवल वजन के आश्रय से अरबी फारसी मे बिना छन्दोभङ्ग के बड़ी सुन्दर कविताये लिखी गई हैं। उनमे एक मात्रा की भी घटी-बढ़ी नही पाई जाती, वजन पर ही उनकी अधिकांश कविता छन्दो-गति विषय मे सर्वथा निर्दोष हैं। परन्तु उर्दू मे केवल वजन ने बड़ी उलझन पैदा की है, मुख्य कर उन लोगो के लिये जो वर्णवृत्त और मातृक छन्द पढ़ने के अभ्यस्त है। उर्दू कवियो ने वजन पर काम किया है, इसलिये भाषा की क्रियाओ और शब्दो को बेतरह दबा-दुबू और तोड़-फोड़ डाला है। क्योकि वजन के कैडे पर वे प्राय. ठीक नही उतर सके। उर्दू भाषा मे लिखे गये छन्द को कोई मनुष्य उस समय तक शुद्धता से कदापि नहीं पढ़ सकता, जब तक कि उसको वजन न ज्ञात हो। यदि कोई अक्षरो और मात्राओ के सहारे शब्दो का शुद्ध उच्चारण करके उर्दू के पद्यो को पढ़ना चाहेगा, तो अधिकांश स्थलों पर उसका पतन होगा। मिर्जा गालिब का एक शेर है —

यह कहाँ की दोस्ती है जो बने हैं दोस्त नासेह।
कोई चाराकार होता कोई ग़म गुसार होता॥

यह शेर यदि निम्नलिखित प्रकार से लिख दिया जावे तब तो उसको सब शुद्धतापूर्वक पढ़ लेंगे, अन्यथा बिना वजन पर दृष्टि डाले उसका ठीक-ठीक पढ़ना असभव है.—

य कहाँ की दोस्ती है जुबनेह दोस्त नासह ।
को चारकार' होता को गम गुसार होता ॥

यह हिन्दी-भाषा का २४ मात्रा का दिग्पाल छन्द है, जिसमे बारह बारह मात्राओ पर विराम होता है। किन्तु आप देखे, चौवीस मात्रा का छन्द बना कर लिखने मे उक्त शेर के कुछ शब्द कितने विकृत हुए है और किस प्रकार उनमे दुर्बोधता आ गई है। अतएव बोध के लिये शब्दो का शुद्ध रूप मे लिखा जाना ही समुचित और आवश्यक ज्ञात होता है। हॉ, पढ़ने के लिये उस वंजन का अवलम्बन करना पडेगा जो कि दिग्पाल छन्द का है, चाहे शब्दो और रसना को कितना ही दबाना पड़े, निदान यही प्रणाली प्रचलित भी है। जब उर्दू बह्र मे लिखे गये शेर, या हिन्दी-भाषा के पद्य, लिखे चाहे जिस प्रकार से जावे, पढ़े वजन के अनुसार ही जावेगे तो फिर शब्दो को विकृत करने से क्या प्रयोजन ? मै समझता हूँ इस विषय मे वही पद्धति अवलम्बनीय है, जो अब तक प्रचलित और सर्वसम्मत है।

मै यह स्वीकार करता हूँ कि कभी-कभी मात्रिक छन्दो मे भी स्वरसयुक्त वर्ण को हलन्तवत् पढ़ने से ही छन्द की गति निर्दोष रहती है, और कहीं-कहीं इस छन्द मे भी वर्णवृत्त के समान नियमित स्थान पर नियत रीति से लघु, गुरु रखने से ही काम चलता है। किन्तु उर्दू बह्र के वज़न ही जब इस काम को पूरा कर देते है, तो शब्दो को विकृत कर के बोध मे व्याघात उत्पन्न करना युक्तिसगत नही जान पड़ता। वजन के अनुकूल शब्दों को विकृत करके कविता को ठीक कर लेना यद्यपि छन्द की गति के लिये

अवश्य उपयोगी होगा, परन्तु उससे जो शव्दो में विकृति होगी, वह बड़ी ही दुर्बोधता और जटिलतामूलक होगी, अतएव ऐसी अवस्था मे वज़न का आश्रय ही वांछनीय है, शव्द की विकृति नहीं, निदान इस समय यही प्रणाली प्रचलित और गृहीत है।

मैंने इन्ही बातो पर दृष्टि रख कर 'प्रियप्रवास' मे इसको, जिसको, करना इत्यादि को इसी रूप मे लिखा है, उनको सयुक्ताक्षर का रूप नहीं दिया है। न, जन, मन, मदन वस, अब इत्यादि के अंतिम अक्षरो को कहीं गुरु बनाने के लिये हलन्त किया है, आशा है मेरी यह प्रणाली बुधजन द्वारा अनुमोदित समझी जावेगी।

हलन्त वर्णों का सस्वर प्रयोग

मै ऊपर लिख आया हूँ कि हिन्दी भाषा की यह स्वाभाविकता है कि वह प्राय युक्त वर्णों को सारल्य के लिये अयुक्त बना लेती है और हलन्त वर्ण को सस्वर कर लेती है, गर्व, मर्म, धर्म, दर्प, मार्ग इत्यादि का गरब, मरम, धरम, दरप, मारग इत्यादि लिखा जाना इस बात का प्रमाण है। यद्यपि आजकल की भापा अर्थात् गद्य मे ये शव्द प्राय. शुद्ध रूप मे ही लिखे जाते है, किन्तु साधारण बोलचाल मे वे अपभ्रंश रूप मे ही काम देते है। खड़ी बोलचाल की कविता मे गद्य के ससर्ग से वे शुद्ध रूप मे भी लिखे जाने लगे हैं। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनके अपभ्रंश रूप से भी काम लिया जाता है। मेरे विचार मे यह दोनो प्रणाली ग्राह्य है। हलन्त वर्ण को सस्वर करके लिखने और युक्त वर्ण को अयुक्त वर्ण का रूप देने की प्रथा प्राचीन है उसके पास आचार्य्यों और प्रधान काव्य-कर्त्ताओ द्वारा व्यवहार किये जाने की सनद भी है, जैसा कि निम्नलिखित पद्य-खण्डो के अवलोकन करने से अवगत होगा.—

शुक से मुनि शारद से बकता,
चिरजीवन लोमस से अधिकाने। —गोस्वामी तुलसीदास

आपने करम करि उतरोगो पार,
तो पै हम करतार करतार तुम काहे को। —सेनापति

राति ना सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सो। —पद्माकर

जो बिपति हूँ मै पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं सशय नहीं॥
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (मुद्राराक्षस)

निदान इसी प्रणाली का अवलम्बन करके मैंने भी 'प्रियप्रवास' में मरम इत्यादि शब्दो का प्रयोग संकीर्ण स्थलो पर किया है। ऐसा प्रयोग मेरी समझ मे उस दशा मे यथाशक्ति न करना चाहिये, जहाँ वह परिवर्त्तित रूप मे किसी दूसरे अर्थ का द्योतक होवे। जैसा कि कविवर विहारीलाल के निम्नलिखित पद्य का समर शब्द है, जो स्मर का अशुद्ध रूप है और कामदेव के अर्थ मे ही प्रयुक्त है, परन्तु अपने वास्तव अर्थ सग्राम की ओर चित्त को आकर्षित करता है।

"धस्यो मनो हिय घर समर ड्योढी लसत निसान"

हिन्दी-भाषा की कथित प्रकृति पर दृष्टि रख कर ही प्राचीन कतिपय लेखको ने पद्य क्या गद्य मे भी अनेक शब्दो के हलन्त वर्ण को सस्वर लिखना प्रारम्भ कर दिया था। मुख्यतः वे उस हलन्त वर्ण को प्राय सस्वर करके लिखते थे जो कि किसी शब्द के अन्त मे होता था। इस बात को प्रमाणित करने के लिये मैं मार्म्मिक लेखक स्वर्गीय श्रीयुत पडित प्रतापनारायण मिश्र लिखित कतिपय पंक्तियाँ उनके प्रसिद्ध 'ब्राह्मण' मासिक पत्र के खण्ड ४ संख्या १, २ से नीचे अविकल उद्धृत करता हूँ—

"तो कदाचित कोई परमेश्वर का नाम भी न ले"

"आप को चन्द्र- सूर्य इन्द्र करण व हातिम बनाया करते हैं"

"छोटे बडे दरिद्री धनी मूर्ख विद्वान सब का यही सिद्धान्त है"

—पृष्ठ सख्या १०

"सभी या तो प्रत्यक्ष ही विषवत या परम्परा द्वारा कुछ न कुछ नाश करनेवाले"

"बंधनरहित होने पर भी भगवान का नाम दामोदर क्यो पड़ा"

—सख्या २ पृष्ठ २

"द्रुपदतनया को केशाकरषण एवं वनवास आदि का दुख सहना पडा।

"यदि थोड़े से लोग उसके चाहनेवाले हैं भी तो निर्बल निरधन बदनाम"

—सख्या २ पृष्ठ ३

"यद्यपि कभी कभी विद्वान, धनवान और प्रतिष्ठावान लोग भी उसके यहाँ जा रहते हैं"

—सख्या २ पृष्ठ ५

"उसके चाहनेवाले उसे सारे जगत की भाषा से उत्तम माने बैठे हैं"

—सख्या २ पृष्ठ ६

"इस से निरलज़ हो के साफ साफ़ लिखते हैं।

—सख्था १ पृष्ठ ४

किन्तु आज कल गद्य मे किसी हलन्त वर्ण को सस्वर लिखना तो उठता ही जा रहा है, प्रत्युत पद्य मे भी इसका प्रचार हो चला है। मध्य के हलन्त वर्ण की बात तो दूर रही इन दिनो किसी शब्द के अन्त्यस्थित हलन्त को भी कतिपय आधुनिक प्रधान लेखक सस्वर लिखना नही चाहते। कदाचित्, विद्वान्, विषवत्, भगवान्, धनवान्, प्रतिष्ठावान्, जगत् इत्यादि शब्दो के अन्तिम वर्ण को भी वे अब सस्कृत की रीति के अनुसार हलन्त ही लिखते

हैं। आज कल वही लोग ऐसा नहीं करते जो संस्कृत कम जानते हैं अथवा प्राचीन प्रणाली के अनुमोदक हैं, अन्यथा प्राय हिन्दी-लेखक इसी पथ के पान्थ हैं। मैं यह कहूँगा कि इस प्रथा का जितना अधिक सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रचार हो रहा है, उतना ही संस्कृत से अनभिज्ञ लेखक को हिन्दी लिखना एक प्रकार से दुस्तर हो चला है और इस मार्ग में कठिनता उत्पन्न हो गई है परन्तु समय के प्रवाह को कौन रोक सकता है? पद्य में अब भी यह प्रणाली सर्वतोभावेन गृहीत नहीं हुई है, उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पद्यों पर दृष्टिपात कीजिये —

"मित्र बन्धु विद्वान साधु-समुदाय एक सपना पाया।"
"इस प्रकार हो विग जगत में नहीं किसी पर मरता हूँ।"
"तो भी किन्तु कदाचित यदि बहु देशों का हम करें मिलान।"
"परिमित इच्छावान वहाँ के योग्य वहाँ का है वासी।"
"दीन उसे बेंचे है औ धनवान मोल का माँगे है।"

—पं० श्रीधर पाठक (श्रान्तपथिक)

"थे नियम विद्या विनय के और हम विद्वान थे।
धर्म्मनिष्ठ भी सभी गुणवान थे श्रीमान थे॥"

—सरस्वती, भाग १४ खंड २ संख्या ५ पृष्ठ ६२३

मैंने भी 'प्रियप्रवास' में कदाचित, महान् इत्यादि शब्दों का प्रयोग आवश्यक स्थलों पर उनके अन्तिम हलंत वर्ण को सस्वर बना कर किया है। मेरा विचार है कि कविता के लिये इतनी सुविधा आवश्यक है, यों तो हिन्दी की गठन-प्रणाली का ध्यान करके उनका गद्य में भी इस प्रकार लिखा जाना सर्वथा असंगत नहीं है।

शाब्दिक विकलांगता

इस ग्रन्थ में जायेंगे, वैसाही, वैसीही इत्यादि के स्थान पर जायँगे, वैसिही, वैसही इत्यादि भी कहीं-कहीं लिखा गया है। यह शाब्दिक विकलांगता पद्य मे इस सिद्धान्त के अनुसार अनुचित नहीं समझी जाती "अपि माष मप कुर्य्यात् छन्दोभङ्ग न कारयेत्"। अतएव इस विषय मे मैं विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं समझता। केवल 'जायँगे' के विषय मे इतना कह देना चाहता हूँ कि अधिकांश लेखक गद्य मे भी इस क्रिया को इसी प्रकार लिखते है। नीचे के वाक्यो को देखिये —

"अरे वेणुवेत्रक, पकड़ इस चन्दनदास को घरवाले आप ही रो पीट कर चले जायँगे" —भारतेंदु हरिश्चद्र (मुद्राराक्षस)

"धार्मिक अथवा सामाजिक विषयों पर विचार न किया जायगा, हिन्दी समाचार पत्रों मे छापने के लिये भेज दी जाय"

—द्वि० हि० सा० स० वि० प्रथम भाग पृष्ठ ५०-५१

अब इसके प्रतिकूल प्रयोगो को देखिये —

"कहीं भी इतने लाल नहीं होते कि वे बोरियो में भरे जावे।"

"हिन्दी भाषा के उत्तमोत्तम लेखों के साथ गिना जावे।"

"धीरे धीरे अपने सिद्धान्त के कोसों दूर हो जावेंगे।'

—द्वि० हि० सा० स० वि० की भूमिका पृष्ठ १, २, ४,

"मेरे ही प्रभाव से भारत पायेगा परमोज्ज्वल ज्ञान।"

"मिट अवश्य ही जायेगा यह अति अनर्थकारी अज्ञान।"

"जिसमें इस अभागिनी का भी हो जावे अब बेड़ा पार।"

—श्रीयुत् प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

मेरा विचार है कि जायँगे, जायगा, दी जाय इत्यादि के स्थान पर जायेंगे या जावेंगे, जायेगा वा जावेगा, दी जाये वा दी जावे

इत्यादि लिखना अच्छा है, क्योंकि यह प्रयोग ऐसी सब क्रियाओं में एक सा होता है, किन्तु प्रथम प्रयोग इस प्रकार की अनेक क्रियाओं मे एक सा नहीं हो सकता। जैसे जाना धातु का रूप तो जायँगे, जायगा इत्यादि बन जावेगा, परन्तु आना, पीना इत्यादि धातुओं का रूप इस प्रकार न बन सकेगा, क्योंकि आयगा पीयगा, इत्यादि नहीं लिखा जाता। आयेगा या आवेगा, पीयेगा या पीवेगा इत्यादि ही लिखा जाता है।

विशेषण-विभिन्नता

हिन्दी भाषा के गद्य-पद्य दोनों में विशेषण के प्रयोग में विभिन्नता देखी जाती है। सुन्दर स्त्री या सुन्दरी स्त्री, शोभित लता या शोभिता लता, दोनों लिखा जाता है। निम्नलिखित गद्य-पद्य को देखिये—इनमें आपको दोनों प्रकार का प्रयोग मिलेगा :—

"अभी जो इसने अपने कानों को छूनेवाली चञ्चल चितवन से मुझे देखा"

"जो स्त्रियाँ ऐसी सुन्दर हैं उन पर पुरुष को आसक्त कराने में कामदेव को अपना धनुष नहीं चढाना पडता" —कर्पूरमंजरी पृष्ठ १० ११

"निरवलम्बा, शोकसागरमग्ना, अभागिनी अपनी जननी की दुरवस्था एक बार तो आँखें खोल कर देखो"

"तुम लोग अब एक बेर जगतविख्याता, ललनाकुलकमलकलिकाप्रकाशिका, राजनिचयपूजितपादपीठा, सरलहृदया, आर्द्रचित्ता, प्रजारञ्जनकारिणी, दयाशीला, आर्य्यस्वामिनी, राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरणकमलों में अपने दुःख को निवेदन करो" —भारत जननी पृष्ठ ९, ११

"धूनी तरे आग की ज्वाला चञ्चल शिखा झलकती है"

"कोमल, मृदुल, मिष्टवाणी से दुख का सेतु बरसता है"

"अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेमसुधा बरसाता था"

—एकान्तवासी योगी (प०श्रीधर पाठक)

"जयति पतिप्रेमपनप्रानसीता।
नेहनिधि रामपद प्रेमअवलम्बिनी सततसहवास पतिव्रत पुनीता"

—प० श्रीधर पाठक

"भृकुटी विकट मनोहर नासा"
"सोह नवल तन सुन्दर सारी"
"मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी"
"सकल परमगति के अधिकारी"
"पुनि देखी सुरसरी पुनीता"
"मम धामदा पुरी सुखरासी"
"नखनिर्गता सुरबन्दिता त्रयलोकपावन सुरसरी"

—महात्मा तुलसीदास

इस सर्वसम्मत प्रणाली पर दृष्टि रख कर ही इस ग्रन्थ मे भी विशेषणो का प्रयोग उभय रीति से किया गया है।

हिन्दी-प्रणाली प्रस्तुत शब्द

कुछ शब्द इसमे ऐसे भी प्रयुक्त हुए है, जो सर्वथा हिन्दी प्रणाली पर निर्मित है। संस्कृत-व्याकरण का उनसे कुछ सम्बन्ध नही है। यदि उसकी पद्धति के अनुसार उनके रूपो की मीमांसा की जावेगी तो वे अशुद्ध पाये जावेगे, यद्यपि हिन्दी भाषा के नियम से वे शुद्ध हैं। ए शब्द मृगदृगी, दृगता इत्यादि हैं। मृगदृगी का मृगदृषी, दृगता का दृक्ता शुद्ध रूप है, परन्तु कवितागत सौकर्य्य-सम्पादन के लिये उनका वही रूप रखा गया है। हिन्दी भाषा के गद्य-पद्य दोनो मे इसके उदाहरण मिलेगे, एक यहाँ पर दिया जाता है —

"ऐसी रुचिर-दृगी मृगियों के आगे शोभित भले प्रकार"।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त (सरस्वती भाग ८ संख्या ६ पृष्ठ २४४)

शब्द-विन्यास विभिन्नता

शब्द-विन्यास मे भी विभिन्नता इस ग्रन्थ मे आप लोगो को मिलेगी, ऐसा अधिकतर पद्य की भाषा का विचार कर के और कहीं कहीं छन्द की अवस्था पर दृष्टि रख कर हुआ है। 'रोये विना न छन भी मन मानता था', 'रोना महा अशुभ जान पयान वेला' यदि मैं इन चरणों मे छन के स्थान पर क्षण, पयान के स्थान पर प्रयाण लिखता तो इनके लालित्य में कितना अन्तर पड़ जाता। इसी प्रकार यदि मैं 'सचेष्ट होते भर वे क्षणेक थे, इस चरण मे क्षणेक के स्थान पर छनेक लिख देता तो इसके ओज और रस मे कितना विभेद होता, और यही कारण है कि आप इस ग्रन्थ में कहीं छन कहीं क्षण, कहीं भाग कहीं भाग्य, कहीं पयान कहीं प्रयाण इत्यादि विभिन्न प्रयोग देखेंगे।

मैंने इस विषय का पूर्ण ध्यान रखा है कि ग्रन्थ की भाषा एक प्रकार की हो, और यथाशक्य मैंने ऐसा किया भी है, तथापि रस और अवसर के अनुसरण से आप इस ग्रन्थ की भाषा को स्थान स्थान पर परिवर्तित पावेंगे। मैंने ऊपर कहा है कि जिस पद्य मे मुझको जिस प्रकार का शब्द रखना उचित जान पड़ा, मैंने उसमें वैसा ही शब्द रखा है, परन्तु नहीं कह सकता कि मैं अपने उद्देश्य मे कहाँ तक कृतकार्य्य हुआ हूँ, और सहृदय कवि एव विद्वानो को मेरी यह परिपाटी कहाँ तक उचित जान पडेगी। मेरा यह भी विचार हुआ था कि मैं व्रज भाषा की प्रणाली के अनुसार ण, श इत्यादि को न, स इत्यादि से बदल कर इस ग्रथ की भाषा को विशेष कोमल कर दूँ। रमणीय, श्रवण, शोभा, शक्ति इत्यादि को रमनीय, स्रवन, सोभा, सक्ति कर के लिखूँ। परन्तु ऐसा करने से प्रथम तो इस ग्रन्थ की भाषा वर्त्तमान-काल की गद्य की भाषा से अधिक भिन्न हो जाती, दूसरे इसमें जो संस्कृत का यत्किंचित् रंग

है वह न रहता और भद्दापन एवं अमनोहारित्व आ जाता। इस समय जितना 'रमणीय' शब्द श्रुतिसुखद और प्यारा ज्ञात होता है उतना रमनीय नहीं, जो 'शोभा' लिखने मे सौन्दर्य्य और समादर है वह 'सोभा' लिखने मे नहीं। अतएव कोई कारण नहीं था कि मैं सामयिक प्रवृत्ति और प्रवाह पर दृष्टि न रख कर एक स्वतन्त्र पथ ग्रहण करता। किसी कवि ने कितना अच्छा कहा है —

"दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव।
तस्य तदेवहि मधुर यस्य मनोयाति यत्र सलग्नम् ॥"

इस ग्रन्थ मे आप कहीं कहीं बहु वचन मे भी यह और वह का प्रयोग देखेंगे, इसी प्रकार कहीं कहीं यहाँ के स्थान पर यॉ, वहाँ के स्थान पर वॉ, नहीं के स्थान पर न और वह के स्थान पर सो का प्रयोग भी आप को मिलेगा। उर्दू के कवि एक वचन और बहु वचन दोनों में यह और वह लिखते हैं, और यहाँ और वहाँ के स्थान पर प्राय यॉ और वॉ का प्रयोग करते है, परन्तु मैंने ऐसा संकीर्ण स्थलो पर ही किया है। हिन्दी भाषा के आधुनिक पद्य-लेखको को भी ऐसा करते देखा जाता है। मेरा विचार है कि बहु वचन मे ए और वे का प्रयोग ही उत्तम है और इसी प्रकार यहाँ और वहाँ लिखा जाना ही यथाशक्य अच्छा है, अन्यथा चरण सकीर्ण स्थलो पर अनुचित नहीं, परन्तु वहीं तक वह ग्राह्य है जहाँ तक कि मर्य्यादित हो। नहीं और वह के स्थान पर न और सो के विषय मे भी मेरा यही विचार है। उक्त शब्दो के व्यवहार के उदाहरण स्वरूप कुछ पद्य और गद्य नीचे लिखे जाते है —

"जिन लोगो ने इस काम में महारत पैदा की है, वह लफ्जों को देखकर साफ पहचान लेते हैं"

"ख्यालात का मरतबा जबान से अव्वल है, लेकिन जब तक वह दिल मे हैं, माँ के पेट मे अधूरे बच्चे हैं"

"या यह दोनों जबानें एक जबान से इस तरह निकली होगी, जिस तरह एक बाप की दो बेटियाँ जुदा हो गई"

"वरना खाना-बदोशी के आलम मे खुशबाश जिन्दगी बसर करते हैं, यह जगलों के चरिन्द और पहाड़ो के परिन्द ऐसी बोलियाँ बोलते हैं"

—सखुनदान फारस, सफहा २, ६, २५

"वह झाड़ियाँ चमन की वह मेरा आशियाना ।
यह बाग की बहारें वह सबका मिलके गाना ॥" (सरस्वती पत्रिका)
तो यौं जर्रा जर्रा यह करता है एला ।
हवा यों की थी जिन्दगी बख्श दौरा ॥
कि आती हो वाँ से नजर सारी दुनिया ।
जमाना की गरदिश से है किसको चारा ॥
कभी यों सिकन्दर कभी यों है दारा ।" —मुसद्दसहाली

"हैं धन्य वही परमातमा जो यों तक लाया हमें ।"

—सरस्वती पत्रिका भाग ८ सख्या १ पृष्ठ २५

"जाइ न बरनि मनोहर जोरी । दरस लालसा सकुच न थोरी ॥"

—महात्मा तुलसीदास

"रूप सुधा इकली ही पियै पियहू को न आरसी देखन देत है"

—भारतेन्दु हरिश्चंद्र

"न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है"

—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

"सो तो कियो वायु सेवन को मानहुँ अपर प्रकारा है"

"सबै सो अहो एक तेरे निहोरे" —पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

"और जो है सो है ही, किन्तु पाठक जरा इस कथन को ध्यान-पूर्वक देखें" —अभ्युदय, भाग ८ संख्या ३ पृष्ठ ३ कालम ३

व्रजभाषा-शब्द-प्रयोग

आज कल के कतिपय साहित्य-सेवियों का विचार है कि खड़ी बोली की कविता इतनी उन्नत हो गई है और इस पद पर पहुँच गई है कि उसमें व्रज भाषा के किसी शब्द का प्रयोग करना उसे अप्रतिष्ठित बनाना है। परन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। व्रज भाषा कोई पृथक् भाषा नहीं है, इसके अतिरिक्त उर्दू-शब्दों से उसके शब्दों का हिन्दी भाषा पर विशेष स्वत्व है। अतएव कोई कारण नहीं है कि उर्दू के शब्द तो निस्संकोच हिन्दी में गृहीत होते रहें और व्रज भाषा के उपयुक्त और मनोहर शब्दों के लिये भी उसका द्वार बन्द कर दिया जावे। मेरा विचार है कि खड़ी बोल-चाल का रंग रखते हुए जहाँ तक उपयुक्त एवं मनोहर शब्द व्रज-भाषा के मिलें, उनके लेने में संकोच न करना चाहिये। जब उर्दू भाषा सर्वथा व्रज भाषा के शब्दों से अब तक रहित नहीं हुई तो हिन्दी भाषा उससे अपना सम्बन्ध कैसे विच्छिन्न कर सकती है। इसके व्यतीत मैं यह भी कहूँगा कि उपयुक्त और आवश्यक शब्द किसी भाषा का ग्रहण करने के लिए सदा हिन्दी भाषा का द्वार उन्मुक्त रहना चाहिये, अन्यथा वह परिपुष्ट और विस्तृत होने के स्थान पर निर्बल और संकुचित हो जावेगी। सहृदय कवि भिखारीदास कहते हैं.—

तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

इस सिद्धान्त द्वारा परिचालित हो कर मैंने व्रज भाषा के बिलग, बगर इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी कहीं कहीं किया है, आशा है मेरा यह अनुचित साहस न समझा जायगा।

ह्रस्व वर्णों का दीर्घ बनाना

संस्कृत का यह नियम है कि उसके पद्य में कहीं-कहीं ह्रस्व

वर्ण का प्रयोग दीर्घ की भाँति किया जाता है। सहृदयवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के निम्नलिखित पद्य के उन शब्दो को देखिये जिनके नीचे लकीर खिची हुई है। प्रथम चरण के घ, द्वितीय चरण के श, तृतीय चरण के त्र और चतुर्थ चरण के व तथा ति ह्रस्व वर्णों का उच्चारण इन पद्यो के पढ़ने मे दीर्घ की भाँति होगा।

निदाघ ज्वाला से विचलित हुआ चातक अभी।
भुलाने जाता था निज विमल यश-व्रत सभी॥
दिया पत्र द्वारा नव बल मुझे आज तुमने।
सुसाक्षी हैं मेरे विदित कुल-देव ग्रह पति॥

इस प्रकार के प्रयोगो का व्यवहार यद्यपि हिन्दी भाषा मे आज कल सफलता से हो रहा है, और लोगो का विचार है कि यदि सस्कृत के वृत्तो की खडी बोली के पद्य के लिये आवश्यकता है, तो इस प्रणाली के ग्रहण की भी आवश्यकता है, अन्यथा बडी कठिनता का सामना करना पडेगा और एक सुविधा हाथ से जाती रहेगी। मै इस विचार से सहमत हूँ; परन्तु इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि जहाँ तक संभव हो, ऐसा प्रयोग कम किया जावे, क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग हिन्दी-पद्य मे एक प्रकार की जटिलता ला देता है। आप लोग देखेगे कि ऐसे प्रयोगो से बचने की इस ग्रन्थ मे मैने कितनी चेष्टा की है।

दोषक्षालन चेष्टा

इस ग्रन्थ के लिखने में शब्दो के व्यवहार का जो पथ ग्रहण किया गया है, मैने यहाँ पर थोड़े मे उसका दिग्दर्शन मात्र किया है। इस ग्रन्थ के गुण दोष के विषय मे न तो मुझको कुछ कहने का अधिकार है और न मै इतनी क्षमता ही रखता हूँ कि इस

जटिल मार्ग मे दो-चार डग भी उचित रीत्या चल सकूँ। शब्द-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष इतने गहन हैं और इतने सूक्ष्म इसके विचार एवं विभेद हैं कि प्रथम तो उनमे यथार्थ गति होना असम्भव है, और यदि गति हो जावे, तो उस पर दृष्टि रख कर काव्य करना नितान्त दुस्तर है। यह धुरन्धर और प्रगल्भ विद्वानो की बात है, मुझ-से अबोधो की तो इस पथ मे कोई गणना ही नही "जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाही। कहहु तूल केहि लेखे माहीं"। श्रद्धेय स्वर्गीय पण्डित सुधाकर द्विवेदी, प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य्य-विवरण के पृष्ठ ३७ मे लिखते है —

"हिन्दी और सस्कृत काव्यो मे जितने भेद हैं, उन सब पर ध्यान देकर जो काव्य बनाया जावे तो शायद एकाध दोहा या श्लोक काव्य लक्षण से निर्दोष ठहरे।"

जब यह अवस्था है, तो मुझ-से अल्पज्ञ का अपनी साधारण कविता को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा करना मूर्खता छोड़ और कुछ नही हो सकता। अतएव मेरी इन कतिपय पंक्तियो को पढ़ कर यह न समझना चाहिये कि मैने इनको लिख कर अपने ग्रन्थ को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की है। प्रथम तो अपना दोष अपने को सूझता नहीं, दूसरे कवि-कर्म्म महा कठिन, ऐसी अवस्था मे यदि कोई अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् भी ऐसी चेष्टा करे तो उसे उपहासास्पद होना पड़ेगा। मुझ-से ज्ञानलव - दुर्विदग्ध की तो कुछ बात ही नही।

—विनीत

'हरिऔध'

सर्ग-सूची

'हरिऔध'

प्रथम सर्ग

—।-।—
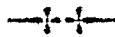
द्रुतविलम्बित छन्द

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥ १॥

विपिन बीच विहंगम-वृन्द का।
कलनिनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा विहगावली।
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी॥ २॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज हरीतिमा।
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई॥ ३॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी।
गगन के तल की यह लालिमा।
सरि सरोवर के जल मे पडी।
अरुणता अतिही रमणीय थी॥४॥

अचल के शिखरो पर जा चढ़ी।
किरण पादप-शीश-विहारिणी।
तरणि - विम्ब तिरोहित हो चला।
गगन - मण्डल मध्य शनै शनै.॥५॥

ध्वनि-मयी कर के गिरि - कन्दरा।
कलित-कानन केलि निकुञ्ज को।
बज उठी मुरली इस काल ही।
तरणिजा-तट-राजित-कुञ्ज मे॥६॥

क्वणित मंजु - विषाण हुए कई।
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित - प्रान्तर - भाग मे।
सुन पडा स्वर धावित - धेनु का॥७॥

निमिष मे वन-व्यापित-वीथिका।
विविध - धेनु - विभूषित हो गई।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी।
विलसता जिनके दल साथ था॥८॥

जब हुए समवेत शनै शनै।
सकल गोप सधेनु समण्डली।
तब चले ब्रज - भूषण को लिये।
अति अलकृत - गोकुल - ग्राम को॥९॥

अतसि - पुष्प अलंकृतकारिणी ।
शरद नील - सरोरुह रंजिनी ।
नवल - सुन्दर - श्याम - शरीर की ।
सजल - नीरद सी कल-कान्ति थी ॥१६॥

अति - समुत्तम अग समूह था ।
मुकुर - मंजुल औ मनभावना ।
सतत थी जिसमे सुकुमारता ।
सरसता प्रतिविम्बित हो रही ॥१७॥

विलसता कटि मे पट पीत था ।
रुचिर - वस्त्र - विभूषित गात था ।
लस रही उर मे बनमाल थी ।
कल - दुकूल - अलंकृत स्कध था ॥१८॥

मकर-केतन के कल - केतु से ।
लसित थे वर - कुण्डल कान मे ।
घिर रही जिनकी सब ओर थी ।
विविध - भावमयी अलकावली ॥१९॥

मुकुट मस्तक का शिखि - पक्ष का ।
मधुरिमामय था बहु मञ्जु था ।
असित रत्न समान सुरंजिता ।
सतत थी जिसकी वर - चन्द्रिका ॥२०॥

विशद उज्ज्वल-उन्नत भाल मे ।
विलसती कल केसर - खौर थी ।
असित - पंकज के दल मे यथा ।
रज - सुरंजित पीत - सरोज की ॥२१॥

उछलते शिशु थे अति हर्ष से।
युवक थे रस की निधि लूटते।
जरठ को फल लोचन का मिला।
निरख के सुषमा सुखमूल की ॥२८॥

बहु-विनोदित थीं ब्रज - बालिका।
तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़ती।
बलि गईं बहु बार वयोवती।
छवि विभूति विलोक ब्रजेन्दु की ॥२९॥

मुरलिका कर - पंकज में लसी।
जब अचानक थी बजती कभी।
तब सुधारस मंजु - प्रवाह में।
जन - समागम था अवगाहता ॥३०॥

ढिग सुशोभित श्रीबलराम थे।
निकट गोप - कुमार - समूह था।
विविध गातवती गरिमामयी।
सुरभि थी सब ओर विराजती ॥३१॥

बज रहे बहु - शृंग - विषाण थे
क्वणित हो उठता वर-वेणु था।
सरस - राग - समूह अलाप से।
रसवती - वन थी मुदिता - दिशा ॥३२॥

विविध - भाव - विमुग्ध बनी हुई।
मुदित थीं बहु दर्शक - मण्डली।
अति मनोहर थी बनती कभी।
बज किसी कटि की कलकिंकिणी ॥३३॥

खग-समूह न था अब बोलता।
विटप थे बहु नीरव हो गये।
मधुर मंजुल मत्त अलाप के।
अब न यत्र बने तरु-वृन्द थे ॥४०॥

विहग औ विटपी-कुल मौनता।
प्रकट थी करती इस मर्म्म को।
श्रवण को वह नीरव थे बने।
करुण अंतिम-वादन वेणु का ॥४१॥

विहग-नीरवता-उपरांत ही।
रुक गया स्वर श्रृंग विषाण का।
कल-अलाप समापित हो गया।
पर रही बजती वर-वंशिका ॥४२॥

विविध-मर्म्मभरी करुणामयी।
ध्वनि वियोग-विराग-विबोधिनी।
कुछ घड़ी रह व्याप्त दिगन्त मे।
फिर समीरण मे वह भी मिली ॥४३॥

व्रज-धरा-जन जीवन-यंत्रिका।
विटप-वेलि-विनोदित-कारिणी।
मुरलिका जन-मानस-मोहिनी।
अहह नीरवता निहिता हुई ॥४४॥

प्रथम ही तम की करतूत से।
छवि न लोचन थे अवलोकते।
अब निनाद रुके कल-वेणु का।
श्रवण पान न था करता सुधा ॥४५॥

द्वितीय सर्ग

द्रुतविलम्बित छन्द

गत हुई अब थी द्वि - घटी निशा।
तिमिर - पूरित थी सब मेदिनी।
बहु विमुग्ध करी बन थी लसी।
गगन मण्डल तारक - मालिका॥ १॥

तम ढके तरु थे दिखला रहे।
तमस - पादप से जन - वृन्द को।
सकल गोकुल गेह - समूह भी।
तिमिर-निर्मित सा इस काल था॥ २॥

इस तमो - मय गेह - समूह का।
अति - प्रकाशित सर्व - सुकक्ष था।
विविध ज्योति-निधान-प्रदीप थे।
तिमिर - व्यापकता हरते जहाँ॥ ३॥

इस प्रभा - मय - मंजुल - कक्ष मे।
सदन की करके सकला क्रिया।
कथन थी करती कुल - कामिनी।
कलित कीर्ति व्रजाधिप - तात की॥ ४॥

सुन पड़ी ध्वनि एक इसी घडी।
अति - अनर्थकरी इस ग्राम मे।
विपुल वादित वाद्य - विशेष से।
निकलती अब जो अविराम थी ॥११॥

मनुज एक विघोषक वाद्य की।
प्रथम था करता वहु ताडना।
फिर मुकुन्द - प्रवास - प्रसग यो।
कथन था करता स्वर - तार से ॥१२॥

अमित - विक्रम कस नरेश ने।
धनुष - यज्ञ विलोकन के लिये।
कल समादर से व्रज - भूप को।
कुँवर संग निमंत्रित है किया ॥१३॥

यह निमंत्रण लेकर आज ही।
सुत - स्वफल्क समागत है हुए।
कल प्रभात हुए मथुरापुरी।
गमन भी अवधारित हो चुका ॥१४॥

इस सुविस्तृत - गोकुल ग्राम मे।
निवसते जितने वर - गोप है।
सकल को उपढौकन आदि ले।
उचित है चलना मथुरापुरी ॥१५॥

इसलिये यह भूपनिदेश है।
सकल - गोप समाहित हो सुनो।
सब प्रवन्ध हुआ निशि मे रहे।
कल प्रभात हुए न विलम्ब हो ॥१६॥

निमिष में यह भीषण घोषणा।
रजनि - अंक - कलंकित - कारिणी।
मृदु - समीरण के सहकार से।
अखिल गोकुल - ग्राममयी हुई ॥१७॥

कमल - लोचन कृष्ण-वियोग की।
अशनि - पात - समा यह सूचना।
परम - आकुल - गोकुल के लिये।
अति - अनिष्टकरी - घटना हुई ॥१८॥

चकित भीत अचेतन सी बनी।
कँप उठी कुलमानव - मण्डली।
कुटिलता कर याद नृशंस की।
प्रबल और हुई उर वेदना ॥१९॥

कुछ घड़ी पहले जिस भूमि मे।
प्रवहमान प्रमोद - प्रवाह था।
अब उसी रस - प्लावित भूमि मे।
बह चला खर स्रोत विषाद का ॥२०॥

कर रहे जितने कल गान थे।
तुरत वे अति - कुण्ठित - हो उठे।
अब अलाप अलौकिक कंठ के।
ध्वनित थे करते न दिगन्त को ॥२१॥

उतर तार गये बहु बीन के।
मधुरता न रही मुरजादि मे।
विवशता - वश वादक - वृन्द के।
गिर गये कर के करताल भी ॥२२॥

सकल - ग्रामवधू कल कंठता।
परम - दारुण - कातरता बनी।
हृदय की उनकी प्रिय - लालसा।
विविध - तर्क - वितर्क - मयी हुई ॥२३॥

दुख भरी उर - कुत्सित - भावना।
मथन मानस को करने लगी।
करुण - प्लावित लोचन कोण मे।
झलकने जल के कण भी लगे ॥२४॥

नव - उमंग - मयी पुर - बालिका।
मलिन और सशंकित हो गई।
अति - प्रफुल्लित बालक - वृन्द का।
वदन - मण्डल भी कुम्हला गया ॥२५॥

व्रज - धराधिप तात प्रभात ही।
कल हमे तज के मथुरा चले।
असहनीय जहाँ सुनिये वही।
बस यही चरचा इस काल थी ॥२६॥

सब परस्पर थे कहते यही।
कमल - नेत्र निमंत्रित क्यो हुए।
कुछ स्वबन्धु समेत व्रजेश का।
गमन ही, सब भाँति यथेष्ट था ॥२७॥

पर निमंत्रित जो प्रिय है हुए।
कपट भी इसमे कुछ है सही।
दुरभिसंधि नृशंस - नृपाल की।
अब न है व्रज - मण्डल मे छिपी ॥२८॥

विवश हैं करती विधि वामता।
कुछ बुरे दिन हैं ब्रज - भूमि के।
हम सभी अतिही - हतभाग्य हैं।
उपजती नित जो नव - व्याधि है ॥२९॥

किस परिश्रम और प्रयत्न से।
कर सुरोत्तम की परिसेवना।
इस जराजित - जीवन - काल में।
महर को सुत का मुख है दिखा ॥३०॥

सुअन भी सुर विप्र प्रसाद से।
अति अपूर्व अलौकिक है मिला।
निज गुणावलि से इस काल जो।
ब्रज - धरा - जन जीवन-प्राण है ॥३१॥

पर बड़े दुख की यह बात है।
विपद जो अब भी टलती नहीं।
अहह है कढ़ते बनती नहीं।
परम - दग्धकरी उर की व्यथा ॥३२॥

जनम की तिथि से बलबीर की।
बहु - उपद्रव है ब्रज में हुए।
विकटता जिन की अब भी नहीं।
हृदय से अपसारित हो सकी ॥३३॥

परम - पातक की प्रतिमूर्ति सी।
अति अपावनतामय - पूतना।
पय - अपेय पिला कर श्याम को।
कर चुकी ब्रज - भूमि विनाश थी ॥३४॥

पर किसी चिर-संचित-पुण्य से।
गरल अमृत अर्भक को हुआ।
विष-मयी वह हो कर आप ही।
कवल काल-भुजंगम का हुई ॥३५॥

फिर अचानक धूलिमयी महा।
दिवस एक प्रचंड हवा चली।
श्रवण से जिस की गुरु-गर्जना।
कँप उठा सहसा उर दिग्वधू ॥३६॥

उपल वृष्टि हुई तम छा गया।
पट गई महि कंकर-पात से।
गड़गड़ाहट वारिद-व्यूह की।
ककुभ में परिपूरित हो गई ॥३७॥

उखड़ पेड़ गये जड़ से कई।
गिर पड़ी अवनी पर डालियाँ।
शिखर भग्न हुए उजड़ी छतें।
हिल गये सब पुष्ट निकेत भी ॥३८॥

बहु रजोमय आनन हो गया।
भर गये युग-लोचन धूलि से।
पवन-वाहित-पांशु-प्रहार से।
गत बुरी ब्रज-मानव की हुई ॥३९॥

घिर गया इतना तम-तोम था।
दिवस था जिससे निशि हो गया।
पवन-गर्जन औ घन-नाद से।
कँप उठी ब्रज-सर्व वसुन्धरा ॥४०॥

प्रकृति थी जब यों कुपिता महा ।
हरि अदृश्य अचानक हो गये ।
सदन में जिन के ब्रज-भूप के ।
अति-भयानक-क्रन्दन हो उठा ॥४१॥

सकल-गोकुल था यक तो दुखी ।
प्रबल-वेग प्रभंजन आदि से ।
अब दशा सुन नन्द-निकेत की ।
पवि-समाहत सा वह हो गया ॥४२॥

पर व्यतीत हुए द्विघटी टली ।
वह तृणावरतीय विडम्बना ।
पवन-वेग रुका तम भी हटा ।
जलद-जाल तिरोहित हो गया ॥४३॥

प्रकृति शान्त हुई वर व्योम में ।
चमकने रवि की किरणें लगीं ।
निकट ही निज सुन्दर सद्म के ।
किलकते हँसते हरि भी मिले ॥४४॥

अति पुरातन-पुण्य ब्रजेश का ।
उदय था इस काल स्वयं हुआ ।
पतित हो खर वायु-प्रकोप में ।
कुसुम-कोमल बालक जो बचा ॥४५॥

शकट-पात ब्रजाधिप पुत्र की ।
पतन अर्जुन में तरु राज का ।
पकड़ना कुलिशोपम चञ्चु से ।
खग बकासुर का बलवीर को ॥४६॥

वधन - उद्यम दुर्जय - वत्स का।
कुटिलता अघ - संज्ञक - सर्प की।
विकट घोटक की अपकारिता।
हरि निपातन यत्न अरिष्ट का ॥४७॥

कपट - रूप - प्रलम्ब प्रवचना।
खलपना - पशुपालक - व्योम का।
अहह ए सब घोर अनर्थ थे।
व्रज - विभूषण है जिनसे बचे ॥४८॥

पर दुरन्त - नराधिप कंस ने।
अब कुचक्र भयंकर है रचा।
युगल - बालक संग व्रजेश जो।
कल निमंत्रित है मख मे हुए ॥४९॥

गमन जो न करे बनती नही।
गमन से सब भॉति विपत्ति है।
जटिलता इस कौशल जाल की।
अहह है अति कष्ट - प्रदायिनी ॥५०॥

प्रणतपाल कृपानिधि श्रीपते।
फलद है प्रभु का पद - पद्म ही।
दुख-पयोनिधि मज्जित का वही।
जगत मे परमोत्तम पोत है ॥५१॥

विषम संकट मे व्रज है पड़ा।
पर हमे अवलम्बन है वही।
निविड़ पामरता, तम हो चला।
पर प्रभो बल है नख - ज्योति का ॥५२॥

विपद ज्यो बहुधा कितनी टली।
प्रभु कृपावल त्यो यह भी टले।
दुखित मानस का करुणानिधे।
अति विनीत निवेदन है यही ॥५३॥

व्रज-विभाकर ही अवलम्ब है।
हम सशंकित प्राणि-समूह के।
यदि हुआ कुछ भी प्रतिकूल तो।
व्रज-धरा तमसावृत हो चुकी ॥५४॥

पुरुप यो करते अनुताप थे।
अधिक थीं व्यथिता व्रज-नारियाँ।
वन अपार-विषाद-उपेत वे।
विलख थीं दृग-वारि विमोचती ॥५५॥

दुख प्रकाशन का क्रम नारि का।
अधिक था नर के अनुसार ही।
पर विलाप कलाप विसूरना।
विलखना उन मे अतिरिक्त था ॥५६॥

व्रज-धरा-जन की निशि साथ ही।
विकलता परिवर्द्धित हो चली।
तिमिर साथ विमोहक-शोक भी।
प्रबल था पलही पल हो रहा ॥५७॥

विशद-गोकुल बीच विषाद की।
अति-असयत जो लहरे उठी।
वह विवर्द्धित हो निशि-मध्य ही।
व्रज-धरातलव्यापित वे हुई ॥५८॥

विलसती अब थी न प्रफुल्लता।
न वह हास विलास विनोद था।
हृदय कम्पित थी करती महा।
दुखमयी ब्रज-भूमि - विभीपिका ॥५९॥

तिमिर था घिरता बहु नित्य ही।
पर घिरा तम जो निशि आज की।
उस विषाद - महातम से कभी।
रहित हो न सकी ब्रज की धरा ॥६०॥

बहु - भयंकर थी यह यामिनी।
बिलपते ब्रज भूतल के लिये।
तिमिर मे जिसके उसका शशी।
बहु - कला युत होकर खो चला ॥६१॥

घहरती घिरती दुख की घटा।
यह अचानक जो निशि मे उठी।
वह ब्रजांगण मे चिरकाल ही।
बरसती बन लोचनवारि थी ॥६२॥

ब्रज - धरा - जन के उर मध्य जो।
विरह - जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उस को कभी।
नयन का बहु - वारि - प्रवाह भी ॥६३॥

सुखद थे बहु जो जन के लिये।
फिर नहीं ब्रज के दिन वे फिरे।
मलिनता न समुज्वलता हुई।
दुख-निशा न हुई सुख की निशा ॥६४॥

तृतीय सर्ग

द्रुतविलम्बित छन्द

समय था सुनसान निशीथ का।
अटल भूतल मे तम - राज्य था।
प्रलय - काल समान प्रसुप्त हो।
प्रकृति निश्चल, नीरव, शान्त थी॥ १॥

परम - धीर समीर - प्रवाह था।
वह मनो कुछ निद्रित था हुआ।
गति हुई अथवा अति - धीर थी।
प्रकृति को सुप्रसुप्त विलोक के॥ २॥

सकल - पादप नीरव थे खडे।
हिल नही सकता यक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही।
पतित था अवनी पर हो रहा॥ ३॥

विविध - शब्द-मयी वन की धरा।
अति - प्रशान्त हुई इस काल थी।
ककुभ औ नभ - मण्डल में नही।
रह गया रव का लवलेश था॥ ४॥

सकल - तारक भी चुपचाप ही।
वितरते अवनी पर ज्योति थे।
विकटता जिस से तम - तोम की।
कियत थी अपसारित हो रही॥ ५॥

अवश तुल्य पड़ा निशि अंक मे।
अखिल-प्राणि-समूह अवाक था।
तरु - लतादिक बीच प्रसुप्ति की।
प्रबलता प्रतिविम्वित थी हुई॥ ६॥

रुक गया सब कार्य्य - कलाप था।
वसुमती-तल भी अति - मूक था।
सचलता अपनी तज के मनो।
जगत था थिर हो कर सो रहा॥ ७॥

सतत शब्दित गेह समूह मे।
विजनता परिवर्द्धित थी हुई।
कुछ विनिद्रित हो जिनमे कहीं।
झनकता यक झींगुर भी न था॥ ८॥

वदन से तज के मिष धूम के।
शयन - सूचक श्वास - समूह को।
झलमलाहट - हीन - शिखा लिये।
परम - निद्रित सा गृह - दीप था॥ ९॥

भनक थी निशि - गर्भ तिरोहिता।
तम - निमज्जित आहट थी हुई।
निपट नीरवता सब ओर थी।
गुण-विहीन हुआ जनु व्योम था॥१०॥

इस तमोमय मौन निशीथ की।
सहज-नीरवता क्षिति - व्यापिनी।
कलुषिता व्रज की महि के लिये।
तनिक थी न विरामप्रदायिनी॥११॥

दलन थी करती उस को कभी।
रुदन की ध्वनि दूर समागता।
वह कभी वहु थी प्रतिघातिता।
जन - विबोधक-कर्कश - शब्द से ॥१२॥

कल प्रयाण निमित्त जहाँ तहाँ।
वहन जो करते वहु वस्तु थे।
श्रम सना उनका रव - प्रायश।
कर रहा निशि-शान्ति विनाश था ॥१३॥

प्रगटती वहु-भीषण मूर्ति थी।
कर रहा भय ताण्डव नृत्य था।
विकट - दन्त भयकर - प्रेत भी।
विचरते तरु - मूल - समीप थे ॥१४॥

वदन व्यादन पूर्वक प्रेतिनी।
भय - प्रदर्शन थी करती महा।
निकलती जिससे अविराम थी।
अनल की अति-त्रासकरी-शिखा ॥१५॥

तिमिर - लीन - कलेवर को लिये।
विकट - दानव पादप थे वने।
भ्रममयी जिनकी विकरालता।
चलित थी करती पवि - चित्त को ॥१६॥

अति - सशकित और सभीत हो।
मन कभी यह था अनुमानता।
व्रज समूल विनाशन को खडे।
यह निशाचर है नृप - कंस के ॥१७॥

जब कभी बढ़ती उर की व्यथा।
निकट जा करके तब द्वार के।
वह रहे नभ नीरव देखते।
निशि - घटी अवधारण के लिये ॥२४॥

सब - प्रबन्ध प्रभात - प्रयाण के।
यदपि थे रव - वर्जित हो रहे।
तदपि रो पड़ती सहसा रहीं।
विविध - कार्य्य-रता गृहदासियाँ ॥२५॥

जब कभी यह रोदन कान मे।
व्रज - धराधिप के पड़ता रहा।
तड़पते तब यो वह तल्प पै।
निशित - शायक - विद्धजनो यथा ॥२६॥

व्रज - धरा - पति कक्ष समीप ही।
निपट - नीरव कक्ष विशेष मे।
समुद थे व्रज - वल्लभ सो रहे।
अति - प्रफुल्ल मुखांबुज मंजु था ॥२७॥

निकट कोमल तल्प मुकुन्द के।
कलपती जननी उपविष्ट थी।
अति - असयत अश्रु - प्रवाह से।
वदन - मण्डल प्लावित था हुआ ॥२८॥

हृदय मे उनके उठती रही।
भय-भरी अति-कुत्सित-भावना।
विपुल - व्याकुल वे इस काल थीं।
जटिलता - वश कौशल - जाल की ॥२९॥

वरन कम्पित - शीश प्रदीप भी।
कर रहा उनको बहु - व्यग्र था।
अति-समुज्वल - सुन्दर - दीप्ति भी।
मलिन थी अतिही लगती उन्हे ॥३६॥

जब कभी घटता दुख - वेग था।
तब नवा कर वे निज - शीश को।
महि विलम्बित हो कर जोड के।
विनय यो करती चुपचाप थी ॥३७॥

सकल - मगल - मूल कृपानिधे।
कुशलतालय हे कुल - देवता।
विपद सकुल है कुल हो रहा।
विपुल वाछित है अनुकूलता ॥३८॥

परम - कोमल - वालक श्याम ही।
कलपते कुल का यक चिन्ह है।
पर प्रभो! उस के प्रतिकूल भी।
अति - प्रचड - समीरण है उठा ॥३९॥

यदि हुई न कृपा पद-कज की।
टल नही सकती यह आपदा।
मुझ सशकित को सब काल ही।
पद - सरोरुह का अवलम्ब है ॥४०॥

कुल विवर्द्धन पालन ओर ही।
प्रभु रही भवदीय सुदृष्टि है।
यह सुमगल मूल सुदृष्टि ही।
अति अपेक्षित है इस काल भी ॥४१॥

द्रुतविलम्बित छन्द

यह प्रलोभन है न कृपानिधे।
यह अकोर प्रदान न है प्रभो।
वरन है यह कातर - चित्त की,
परम - शान्तिमयी - अवतारणा ॥४८॥

कलुष - नाशिनि दुष्ट - निकंदिनी।
जगत की जननी भव-वल्लभे।
जननि के जिय की सकला व्यथा।
जननि ही जिय है कुछ जानता ॥४९॥

अवनि मे ललना जन जन्म को।
विफल है करती अनपत्यता।
सहज जीवन को उसके सदा।
वह सकटक है करती नहीं ॥५०॥

उपजती पर जो उर - व्याधि है।
सतत संतति संकट - शोच से।
वह सकंटक ही करती नहीं।
वरन जीवन है करती वृथा ॥५१॥

वहुत चिन्तित थी पद - सेविका।
प्रथम भी यक सतति के लिये।
पर निरन्तर सतति - कष्ट से।
हृदय है अव जर्जर हो रहा ॥५२॥

जननि जो उपजी उर मे दया।
जरठता अवलोक - स्वदास की।
वन गई यदि मै वडभागिनी।
तव कृपावल पा कर पुत्र को ॥५३॥

कुवलया सम मत्त - गजेन्द्र से।
भिड नहीं सकते दनुजात भी।
वह महा सुकुमार कुमार से।
रण - निमित्त सुसज्जित है हुआ ॥६०॥

विकट - दर्शन कज्जल - मेरु सा।
सुर गजेन्द्र समान पराक्रमी।
द्विरद क्या जननी उपयुक्त है।
यक पयो - मुख बालक के लिये ॥६१॥

व्यथित हो कर क्यों बिलखूँ नहीं।
अहह धीरज क्योंकर मैं धरूँ।
मृदु - कुरंगम शावक से कभी।
पतन हो न सका हिम शैल का ॥६२॥

विदित है बल, वज्र - शरीरता।
विकटता शल तोशल कूट की।
परम है पटु मुष्टि - प्रहार मे।
प्रबल मुष्टिक सञ्ज्ञक मल्ल भी ॥६३॥

पृथुल - भीम - शरीर भयावने।
अपर हैं जितने मल कंस के।
सब नियोजित है रण के लिये।
यक किशोरवयस्क कुमार से ॥६४॥

विपुल वीर सजे बहु - अस्त्र से।
नृपति - कंस स्वयं निज शस्त्र ले।
विबुध - वृन्द विलोडक शक्ति से।
शिशु विरुद्ध समुद्यत है हुये ॥६५॥

जगत मे यक पुत्र विना कहीं।
विलटता सुर - वांछित राज्य है।
अधिक संतति है इतनी कहीं।
वसन भोजन दुर्लभ है जहाँ ॥७२॥

कलप के कितने वसुयाम भी।
सुअन - आनन हैं न विलोकते।
विपुलता निज सतति की कहीं।
विकल है करती मनु जात को ॥७३॥

सुअन का वदनांवुज देख के।
पुलकते कितने जन हैं सदा।
विलखते कितने सब काल हैं।
सुत मुखांवुज देख मलीनता ॥७४॥

सुखित हैं कितनी जननी सदा।
निज निरापद संतति देख के।
दुखित है मुझ सी कितनी प्रभो।
नित विलोक स्वसतति आपदा ॥७५॥

प्रभु, कभी भवदीय विधान मे।
तनिक अन्तर हो सकता नहीं।
यह निवेदन सादर नाथ से।
तदपि है करती तव सेविका ॥७६॥

यदि कभी प्रभु - दृष्टि कृपामयी।
पतित हो सकती महि - मध्य हो।
इस घड़ी उसकी अधिकारिणी।
मुझ अभागिन तुल्य न अन्य है ॥७७॥

अधिक और निवेदन नाथ से।
कर नहीं सकती यह किंकरी।
गति न है करुणाकर से छिपी।
हृदय की मन की मम - प्राण की ॥८४॥

विनय यों करतीं व्रजपांगना।
नयन से बहती जलधार थी।
विकलतावश वस्त्र हटा हटा।
वदन थीं सुत का अवलोकती ॥८५॥

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

ज्यो ज्यो थी रजनी व्यतीत करती औ देखतीं व्योम को।
त्यों ही त्यो उनका प्रगाढ़ दुख भी दुर्दान्त था हो रहा।
आँखो से अविराम अश्रु बह के था शान्ति देता नहीं।
वारम्वार अशक्त - कृष्ण - जननी थी मूर्छिता हो रही ॥८६॥

द्रुतविलम्बित छन्द

विकलता उनकी अवलोक के।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिप ओस के।
नयन से गिरता बहु - वारि था ॥८७॥

विपुल - नीर बहा कर नेत्र से।
मिप कलिन्द - कुमारि - प्रवाह के।
परम - कातर हो रह मौन ही।
रुदन थी करती ब्रज की धरा ॥८८॥

युग बने, सकती न व्यतीत हो।
अप्रिय था उसका क्षण बीतना।
विकट थी जननी धृति के लिये।
दुखभरी यह घोर विभावरी ॥८९॥

चतुर्थ सर्ग

—+—
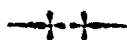
द्रुतविलम्बित छन्द

विशद - गोकुल - ग्राम समीप ही ।
वहु - वसे यक सुन्दर - ग्राम में ।
स्वपरिवार समेत उपेन्द्र से ।
निवसते वृषभानु - नरेश थे ॥ १ ॥

यह प्रतिष्ठित - गोप सुमेरु थे ।
अधिक - आदृत थे नृप - नन्द से ।
व्रज-धरा इनके धन-मान से ।
अवनि में अति - गौरविता रही ॥ २ ॥

यक सुता उनकी अति - दिव्य थी ।
रमणि-वृन्द - शिरोमणि राधिका ।
सुयश - सौरभ से जिनके सदा ।
व्रज - धरा वहु - सौरभवान थी ॥ ३ ॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

रूपोद्यान प्रफुल्ल - प्राय - कलिका राकेन्दु - विम्बानना ।
तन्वंगी कल - हासिनी सुरसिका क्रीड़ा - कला पुत्तली ।
शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी ।
श्रीराधा - मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य्य की मूर्त्ति थी ॥४॥

फूले कंज - समान मंजु - दृगता थी मत्तता कारिणी ।
सोने सी कमनीय - कान्ति तन की थी दृष्टि - उन्मेषिणी ।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्त्ति सी ।
काली - कुंचित - लम्बमान-अलकें थीं मानसोन्मादिनी ॥५॥

नाना - भाव - विभाव - हाव - कुशला आमोद आपूरिता।
लीला - लोल-कटाक्ष - पात - निपुणा भ्रूभंगिमा - पंडिता।
वादित्रादि समोद - वादन - परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल - नयना आनन्द-आन्दोलिता ॥६॥

लाली थी करती सरोज - पग की भूपृष्ठ को भूषिता।
बिम्बा विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की।
हर्षोत्फुल्ल - मुखारविन्द - गरिमा सौन्दर्य्यआधार थी।
राधा की कमनीय कान्त छवि थी कामांगना मोहिनी ॥७॥

सद्वस्त्रा - सदलंकृता गुणयुता - सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य - हृदया सत्प्रेम - संपोषिका।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति - रत्नोपमा ॥८॥

द्रुतविलंबित छन्द

यह विचित्र - सुता वृषभानु की।
ब्रज - विभूषण मे अनुरक्त थी।
सहृदया यह सुन्दर - बालिका।
परम - कृष्ण - समर्पित-चित्त थी ॥ ९ ॥

ब्रज - धराधिप औ वृषभानु मे।
अतुलनीय परस्पर - प्रीति थी।
इसलिए उनका परिवार भी।
वह परस्पर प्रेम - निबद्ध था ॥१०॥

जब नितान्त - अबोध मुकुन्द थे।
विलसते जब केवल अंक में।
वह तभी वृषभानु निकेत मे।
अति समादर साथ गृहीत थे ॥११॥

छविवती - दुहिता वृषभानु की।
निपट थी जिस काल पयोमुखी।
वह तभी व्रज - भूप कुटुम्ब की।
परम - कौतुक - पुत्तलिका रही॥१२॥

यह अलौकिक - बालक-बालिका।
जब हुए कल-क्रीडन-योग्य थे।
परम - तन्मय हो बहु प्रेम से।
तब परस्पर थे मिल खेलते॥१३॥

कलित - क्रीडन से इनके कभी।
ललित हो उठता गृह - नन्द का।
उमड़ सी पड़ती छवि थी कभी।
वर - निकेतन मे वृषभानु के॥१४॥

जब कभी कल - क्रीडन - सूत्र से।
चरण - नूपुर औ कटि-किंकिणी।
सदन मे बजती अति - मंजु थी।
किलकती तब थी कल-वादिता॥१५॥

युगल का वय साथ सनेह भी।
निपट - नीरवता सह था बढ़ा।
फिर यही वर - बाल सनेह ही।
प्रणय मे परिवर्तित था हुआ॥१६॥

बलवती कुछ थी इतनी हुई।
कुँवरि - प्रेम - लता उर - भूमि मे।
शयन भोजन क्या, सब कालही।
वह बनी रहती छवि - मत्त थी॥१७॥

वचन की रचना रस से भरी।
प्रिय मुखांबुज की रमणीयता।
उतरती न कभी चित से रही।
सरलता, अतिप्रीति, सुशीलता ॥१८॥

मधुपुरी बलवीर प्रयाण के।
हृदय - शैल - स्वरूप प्रसंग से।
न उबरी यह बेलि विनोद की।
विधि अहो भवदीय विडम्बना ॥१९॥

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी।
पोरो मे कब ईख की, विपुलता है ग्रथियो की भली।
हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं ॥२०॥

द्रुतविलम्बित छन्द

कमल का दल भी हिम - पात से।
दलित हो पड़ता सब काल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी।
निगलता करता बहु क्लान्त है ॥२१॥

कुसुम सी सुप्रफुल्लित बालिका।
हृदय भी न रहा सुप्रफुल्ल ही।
वह मलीन सकल्मष हो गया।
प्रिय मुकुन्द प्रवास - प्रसंग से ॥२२॥

सुख जहाँ निज दिव्य स्वरूप से।
विलसता करता कल - नृत्य है।
अहह सो अति - सुन्दर सद्म भी।
बच नहीं सकता दुखलेश से ॥२३॥

सब सुखाकर श्रीवृषभानुजा।
सदन-सज्जित-शोभन-स्वर्ग सा।
तुरत ही दुख के लवलेश से।
मलिन शोकनिमज्जित हो गया ॥२४॥

जब हुई श्रुति-गोचर सूचना।
व्रज धराधिप तात प्रयाण की।
उस घड़ी व्रज-वल्लभ प्रेमिका।
निकट थी प्रथिता-ललिता सखी ॥२५॥

विकसिता-कलिका हिमपात से।
तुरत ज्यो बनती अति म्लान है।
सुन प्रसंग मुकुन्द प्रवास का।
मलिन त्यो वृषभानुसुता हुई ॥२६॥

नयन से बरसा कर वारि को।
बन गई पहले बहु बावली।
निज सखी ललिता मुख देख के।
दुखकथा फिर यो कहने लगी ॥२७॥

मालिनी छन्द

कल कुवलय के से नेत्रवाले रसीले।
वररचित फबीले पीत कौशेय शोभी।
गुणगण मणिमाली मंजुभाषी सजीले।
वह परम छबीले लाडिले नन्दजी के ॥२८॥

यदि कल मथुरा को प्रात ही जा रहे है।
बिन मुख अवलोके प्राण कैसे रहेगे।
युग सम घटिकाये बार की बीतती थी।
सखि! दिवस हमारे बीत कैसे सकेगे ॥२९॥

जन मन कलपाना मैं बुरा जानती हूँ।
परदुख अवलोके मैं न होती सुखी हूँ।
कहकर कटु बातें जी न भूले जलाया।
फिर यह दुखदायी बात मैंने सुनी क्यों? ॥२०॥

अयि सखि! अवलोके खिन्नता तू कहेगी।
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं।
पर हृदय न जानें दग्ध क्यों हो रहा है।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता ॥२१॥

यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा, है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन-विपिन में है भागता सा दिखाता ॥२२॥

रुदनरत न जानें कौन क्यों है बुलाता।
गति पलट रही है भाग्य की क्यों हमारे।
उह! कसक समाई जा रही है कहाँ की।
सखि! हृदय हमारा दग्ध क्यों हो रहा है ॥२३॥

मधुपुर-पति ने है प्यार ही से बुलाया।
पर कुशल हमें तो है न होती दिखाती।
प्रिय - विरह - घटायें घेरती आ रही हैं।
घहर घहर देखो है कलेजा कँपाती ॥२४॥

हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि - वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल में जो लिखा है ॥२५॥

रह रह किरणें जो फूटती हैं दिखाती,
वह मिष उनके क्या खोज देते हमें हैं।
कर वह अथवा यों शान्ति का है बढ़ाते।
विपुल - व्यथित जीवों की व्यथा मोचने को ॥८१॥

दुख - अनल - शिखायें व्योम में फूटती हैं।
यह किस दुखिया का है कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है ॥८२॥

चमक चमक तारे धीर देते हमें हैं।
सखि! मुझ दुखिया की बात भी क्या सुनेंगे?
पर - हित - रत - हो ए ठौर को जो न छोड़ें।
निशि विगत न होगी बात मेरी चलेगी ॥८३॥

उडुगण थिर से क्यों हो गये दीखते हैं।
यह विनय हमारी कान में क्या पड़ी है?
रह रह इनमें क्यों रंग आ जा रहा है।
कुछ सखि! इनको भी हो गयी बेकली है ॥८४॥

सखि ! मुख अब तारे क्यों छिपाने लगे है ।
वह दुख लखने की ताव क्या है न लाते ।
परम - विफल होके आपदा टालने मे ।
वह मुख अपना है लाज से या छिपाते ॥४८॥

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
वह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का ।
विहग विकल हो हो बोलने क्यो लगे है।
सखि ! सकल दिशा मे आग सी क्यो लगी है ॥४९॥

सब समझ गई मै काल की क्रूरता को ।
पल पल वह मेरा है कलेजा कॅपाता ।
अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल-व्रज-धरा को फूँक देता जलाता ॥५०॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

हा ! हा ! ऑखो मम - दुख - दशा देख ली औ न सोची ।
बाते मेरी कमलिनिपते ! कान की भी न तू ने ।
जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उॅजाला ।
तेरा होना उदय व्रज मे तो ॲधेरा करेगा ॥५१॥

नाना बाते दुख शमन को प्यार से थी सुनाती ।
धीरे धीरे नयन - जल थी पोछती राधिका का ।
हा ! हा ! प्यारी दुखित मत हो यो कभी थी सुनाती ।
रोती रोती विकल ललिता आप होती कभी थी ॥५२॥

सूखा जाता कमल - मुख था होठ नीला हुआ था ।
दोनो ऑखे विपुल जल मे डूबती जा रही थी ।
शंकाये थी विकल करती कॉपता था कलेजा ।
खिन्ना दीना परम - मलिना उन्मना राधिका थी ॥५३॥

फूलों पत्तों सकल पर है वारि बूँदे दिखातीं।
रोते हैं या विटप सब यों आँसुओं को दिखा के।
रोई थी जो रजनि दुख से नंद की कामिनी के।
ये बूँदें हैं, निपतित हुईं या उसीके दृगों से॥ ५॥

पत्रों पुष्पों सहित तरु की डालियाँ औ लतायें।
भीगी सी थीं विपुल जल में वारि-बूँदों भरी थीं।
मानों फूटी सकल तन में शोक की अश्रुधारा।
सर्वांगों से निकल उनको सिक्तता दे वही थी॥ ६॥

धीरे धीरे पवन ढिग जा फूलवाले द्रुमों के।
शाखाओं से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
मानों यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की।
जो थी प्यारी न ब्रज-जन को आज न्यारी व्यथा से॥ ७॥

फूलों का यों अवनि-तल में देख के पात होना।
ऐसी भी थी हृदय-तल में कल्पना आज होती।
फूले फूले कुसुम अपने अंक में से गिरा के।
वारी वारी सकल तरु भी खिन्नता हैं दिखाते॥ ८॥

नीची ऊँची सरित सर की वीचियाँ, ओस बूँदें।
न्यारी आभा वहन करती भानु की अंक में थीं।
मानों यों वे हृदय-तल के ताप को थीं दिखाती।
या दावा थी व्यथित उर में दीप्तिमाना दुखों की॥ ९॥

सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानों खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्तिहीना मलीना॥१०॥

जो भूरि भूत जनता समवेत वॉ थी।
सो कंस भूप भय से बहु कातरा थी।
संचालिता विषमता करती उसे थी।
सताप की विविध - संशय की दुखो की ॥१७॥

नाना प्रसंग उठते जन-संघ मे थे।
जो थे सशंक सबको बहुश बनाते।
था सूखता अधर औ कॅपता कलेजा।
चिन्तो - अपार चित मे चिनगी लगाती ॥१८॥

रोना महा - अशुभ जान प्रयाण - काल।
ऑसू न ढाल सकती निज नेत्र से थी।
रोये बिना न छन भी मन मानता था।
डूबी द्विधा जलधि मे जन - मण्डली थी ॥१९॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

आई बेला हरि - गमन की छा गई खिन्नता सी।
थोड़े ऊॅचे नलिनपति हो जा छिपे पादपो मे।
आगे सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले।
धीरे धीरे सजनक कढ़े सद्म मे से मुरारी ॥२०॥

आते ऑसू अति कठिनता से सॅभाले दृगो के।
होती खिन्ना हृदय - तल के सैकडो संशयो से।
थोड़ा पीछे प्रिय तनय के भूरि शोकाभिभूता।
नाना वामा सहित निकली गेह मे से यशोदा ॥२१॥

द्वारे आया व्रज नृपति को देख यात्रा निमित्त।
भोला भोला निरख मुखड़ा फूल से लाडिलों का।
खिन्ना दीना परम लख के नन्द की भामिनी को।
चिन्ता डूबी सकल जनता हो उठी कम्पमाना ॥२२॥

बूढ़े के ए वचन सुनके नेत्र मे नीर आया ।
आँसू रोके परम मृदुता साथ अक्रूर बोले ।
क्यो होते है दुखित इतने मानिये बात मेरी ।
आ जावेगे विवि दिवस मे आप के लाल दोनो ॥२९॥

आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा-प्रवीणा ।
हाथो से छू कमल-मुख को प्यार से ली बलाये ।
पीछे बोली दुखित स्वर से तू कही जा न बेटा ।
तेरी माता अहह कितनी बावली हो रही है ॥३०॥

जो रूठेगा नृपति व्रज का वासही छोड़ दूँगी ।
ऊँचे ऊँचे भवन तज के जंगलो मे बसूँगी ।
खाऊँगी फूल फल दल को व्यजनो को तजूँगी ।
मै आँखो से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी ॥३१।

जाओगे क्या कुँवर मथुरा कंस का क्या ठिकाना ।
मेरा जी है बहुत डरता क्या न जाने करेगा ।
मानूँगी मै न सुरपति को राज ले क्या करूँगी ।
तेरा प्यारा - वदन लख के स्वर्ग को मै तजूँगी ॥३२॥

जो चाहेगा नृपति मुझ से दंड दूँगी करोड़ो ।
लोटा थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूँगी ।
जो माँगेगा हृदय वह तो काढ़ दूँगी उसे भी ।
बेटा, तेरा गमन मथुरा मै न आँखो लखूँगी ॥३३।

कोई भी है न सुन सकता जा किसे मै सुनाऊँ ।
मै हूँ मेरा हृदयतल है है व्यथाये अनेको ।
बेटा, तेरा सरल मुखड़ा शान्ति देता मुझे है ।
क्यो जीऊँगी कुँवर, बतला जो चला जायगा तू ॥३४॥

पत्नी की औ सुरभि सब की देख ऐसी दशायें।
थोड़ी जो थी अहह! वह भी धीरता दूर भागी।
हा हा! शब्दो सहित इतना फूट के लोग रोये।
हो जाती थी निरख जिसको भग्न छाती शिला की ॥४१॥

आवेगो के सहित बढ़ता देख संताप-सिधु।
धीरे धीरे व्रज-नृपति से खिन्न अक्रूर बोले।
देखा जाता व्रज दुख नही शोक है वृद्धि पाता।
आज्ञा देवे जननि पग छू यान पै श्याम बैठे ॥४२॥

आज्ञा पाके निज जनक की, मान अक्रूर बातें।
जेठे भ्राता सहित जननी-पास गोपाल आये।
छू माता के पग कमल को धीरता साथ बोले।
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊँ ॥४३॥

दोनो प्यारे कुँवरवर के यो विदा माँगते ही।
रोके आँसू जननि दृग मे एक ही साथ आये।
धीरे बोली परम दुख से जीवनाधार जाओ।
दोनो भैया विधुमुख हमे लौट आके दिखाओ ॥४४॥

धीरे धीरे सु-पवन बहे स्निग्ध हो अंशुमाली।
प्यारी छाया विटप वितरे शान्ति फैले वनो मे।
बाधायें हो शमन पथ की दूर हो आपदायें।
यात्रा तेरी सफल सुत हो क्षेम से गेह आओ ॥४५॥

ले के माता-चरणरज को श्याम औ राम दोनो।
आये विप्रो निकट उन के पाँव की वन्दना की।
भाई-बन्दो सहित मिलके हाथ जोड़ा बड़ो को।
पीछे बैठे विशद रथ मे बोध दे के सबो को ॥४६॥

दोनो प्यारे कुँवर वर को यान पै देख बैठा।
आवेगो से विपुल विवशा हो उठीं नन्दरानी।
आँसू आते युगल दृग से वारिधारा बहा के।
बोलीं दीना सदृश पति से दग्ध हो हो दुखो से ॥४७॥

मालिनी छन्द

अहह दिवस ऐसा हाय ! क्यो आज आया।
निज प्रियसुत से जो मै जुदा हो रही हूँ।
अगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी।
यह अनुपम थाती मै तुम्हे सौंपती हूँ ॥४८॥

सब पथ कठिनाई नाथ है जानते ही।
अब तक न कहीं भी लाडिले है पधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालको को न होवे ॥४९॥

खर पवन सतावे लाडिलो को न मेरे।
दिनकर किरणो की ताप से भी बचाना।
यदि उचित जँचे तो छाँह मे भी बिठाना।
मुख-सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे ॥५०॥

विमल जल मँगाना देख प्यासा पिलाना।
कुछ क्षुधित हुए ही व्यजनो को खिलाना।
दिन वदन सुतो का देखते ही विताना।
विलसित अधरो को सूखने भी न देना ॥५१॥

युग तुरग सजीले वायु से वेग वाले।
अति अधिक न दौडे यान धीरे चलाना।
बहु हिल कर हाहा कष्ट कोई न देवे।
परम मृदुल मेरे बालको का कलेजा ॥५२॥

प्रिय! सब नगरो मे वे कुवामा मिलेगी
न सुजन जिनकी है वामता बूझ पाते।
सकल समय ऐसी सॉपिनो से बचाना।
वह निकट हमारे लाडिलो के न आवे ॥५३॥

जब नगर दिखाने के लिये नाथ जाना।
निज सरल कुमारो को खलो से बचाना।
सॅग सॅग रखना औ साथ ही गेह लाना।
छन सुअन दृगो से दूर होने न पावे ॥५४॥

धनुष मख सभा मे देख मेरे सुतो को।
तनिक भृकुटि टेढ़ी नाथ जो कस की हो।
अवसर लख ऐसे यत्न तो सोच लेना।
न कुपित नृप होवे औ बचे लाल मेरे ॥५५॥

यदि विधिवश सोचा भूप ने और ही हो।
यह विनय बड़ी ही दीनता से सुनाना।
हम बस न सकेगे जो हुई दृष्टि मैली।
सुअन युगल ही है जीवनाधार मेरे ॥५६॥

लख कर मुख सूखा सूखता है कलेजा।
उर विचलित होता है विलोके दुखो के।
शिर पर सुत के जो आपदा नाथ आई।
यह अवनि फटेगी और समा जाऊॅगी मै ॥५७॥

जगकर कितनी ही रात मैने बिताई।
यदि तनिक कुमारो को हुई बेकली थी।
यह हृदय हमारा भग्न कैसे न होगा।
यदि कुछ दुख होगा बालको को हमारे ॥५८॥

कब शिशिर निशा के शीत को शीत जाना।
थर थर कॅपती थी औ लिये अक मे थी।
यदि सुखित न यो भी देखती लाल को थी।
सब रजनि खडे औ घूमते ही बिताती ॥५९॥

निज सुख अपने मै ध्यान मे भी न लाई।
प्रिय सुत सुख ही से मै सुखी हूँ कहाती।
मुख तक कुम्हलाया नाथ मैने न देखा।
अहह दुखित कैसे लाडिले को लखूँगी ॥६०॥

यह समझ रही हूँ और हूँ जानती ही।
हृदय धन तुमारा भी यही लाडिला है।
पर विवश हुई हूँ जी नही मानता है।
यह विनय इसीसे नाथ मैने सुनाई ॥६१॥

अब अधिक कहूँगी आपसे और क्या मै।
अनुचित मुझसे है नाथ होता बड़ा ही।
निज युग कर जोडे ईश से हूँ मनाती।
सकुशल गृह लौटे आप ले लाडिलो को ॥६२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

सारी बाते अति दुखभरी नन्द-अर्द्धाङ्गिनी की।
लोगो को थी व्यथित करती औ महा कष्ट देती।
ऐसा रोई सकल-जनता खो बची धीरता को।
भू मे व्यापी विपुल जिससे शोक उच्छ्वासमात्रा ॥६३॥

आविर्भूता गगन-तल मे हो रही है निराशा।
आशाओ मे प्रकट दुख की मूर्त्तियाँ हो रही है।
ऐसा जी मे व्रज-दुख-दशा देख के था समाता।
भू-छिद्रो से विपुल करुणा-धार है फूटती सी ॥६४॥

सारी बाते सदुख सुन के नन्द ने कामिनी को।
प्यारे प्यारे वचन कह के धीरता से प्रबोधा।
आई थी जो सकल जनता धैर्य्य दे के उसे भी।
वे भी बैठे स्वरथ पर जा साथ अक्रूर को ले ॥६५॥

घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बाते दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
हाहा खाया बहु विनय की और कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को ॥६६॥

बीसो बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनो करो से।
रासे ऊँचे तुरग युग की थाम ली सैकड़ो ने।
सोये भू मे चपल रथ के सामने आ अनेको।
जाना होता अति अप्रिय था बालको का सबो को ॥६७॥

लोगो को यो परम-दुख से देख उन्मत्त होता।
नीचे आये उतर रथ के नन्द औ यो प्रबोधा।
क्यो होते हो विकल इतना यान क्यो रोकते हो।
मै ले दोनो हृदय धन को दो दिनो मे फिरूँगा ॥६८॥

देखो लोगो, दिन चढ गया धूप भी हो रही है।
जो रोकोगे अधिक अब तो लाल को कष्ट होगा।
यो ही बाते मृदुल कह के औ हटा के सबो को।
वे जा बैठे तुरत रथ मे औ उसे शीघ्र हॉका ॥६९॥

दोनो तीखे तुरग उचके औ उड़े यान को ले।
आशाओ मे गगन-तल मे हो उठा शब्द हाहा।
रोये प्राणी सकल व्रज के चेतनाशून्य से हो।
सज्ञा खो के निपतित हुई मेदिनी मे यशोदा ॥७०॥

जो आती थी पथरज उड़ी सामने टाप द्वारा।
बोली जाके निकट उसके भ्रान्त सी एक बाला।
क्यो होती है भ्रमित इतनी धूलि क्यो क्षिप्त तू है।
क्या तू भी है विचलित हुई श्याम से भिन्न हो के ॥७१॥

आ आ, आके लग हृदय से लोचनो मे समा जा।
मेरे अंगो पर पतित हो बात मेरी बना जा।
मै पाती हूँ सुख रज तुझे आज छूके करो से।
तू आती है प्रिय निकट से क्लान्ति मेरी मिटा जा ॥७२॥

रत्नो वाले मुकुट पर जा बैठती दिव्य होती।
जो छा जाती अलक पर तू तो छटा मंजु पाती।
धूली तू है, निपट मुझ सी भाग्यहीना मलीना।
आभा वाले कमल-पग से जो नही जा लगी तू ॥७३॥

जो तू जाके विशद रथ मे बैठ जाती कही भी।
किम्वा तू जो युगल तुरगो के तनो मे समाती।
तो तू जाती प्रिय स्वजन के साथ ही शान्ति पाती।
यो हो हो के भ्रमित मुझ सी भ्रान्त कैसे दिखाती ॥७४॥

हा! मै कैसे निज हृदय की वेदना को बताऊँ।
मेरे जी को मनुज तन से ग्लानि सी हो रही है।
जो मैं होती तुरग अथवा यान ही या ध्वजा ही।
तो मै जाती कुँवर वर के साथ क्यो कष्ट पाती ॥७५॥

बोली बाला अपर अकुला हा! सखी क्या कहूँ मैं।
आँखो से तो अब रथ ध्वजा भी नही है दिखाती।
है धूली ही गगन-तल मे अल्प-उड्डीयमाना।
हा! उन्मत्ते! नयन भर तू देख ले धूलि ही को ॥७६॥

जी होता है विकल मुँह को आ रहा है कलेजा।
ज्वाला सी है ज्वलित उर मे ऊवती मै महा हूँ।
मेरी आली अब रथ गया दूर ले सॉवले को।
हा! ऑखो से न अब मुझको धूलि भी है दिखाती ॥७७॥

टापो का नाद जब तक था कान मे स्थान पाता।
देखी जाती जब तक रही यान ऊँची पताका।
थोड़ी सी भी जब तक रही व्योम मे धूलि छाती।
यो ही बाते विविध कहते लोग ऊबे खड़े थे ॥७८॥

द्रुतविलम्बित छन्द

तदुपरान्त महा दुख मे पगी।
बहु विलोचन वारि विमोचती।
महरि को लख गेह सिधारती।
गृह गई व्यथिता जनमंडली ॥७९॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

धाता द्वारा सृजित जग मे हो धरा मध्य आके।
पाके खोये विभव कितने प्राणियो ने अनेको।
जैसा प्यारा विभव व्रज ने हाथ से आज खोया।
पाके ऐसा विभव वसुधा मे न खोया किसी ने ॥८०॥

षष्ठ सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

धीरे धीरे दिन गत हुआ पद्मिनीनाथ डूबे।
दोपा आई फिर गत हुई दूसरा वार आया।
यो ही बीती विपुल घड़ियाँ औ कई वार बीते।
कोई आया न मधुपुर से औ न गोपाल आये॥ १॥

ज्यो ज्यो जाते दिवस चित का क्लेश था वृद्धि पाता।
उत्कण्ठा थी अधिक बढ़ती व्यग्रता थी सताती।
होती आके उदय उर मे घोर उद्विग्नताये।
देखे जाते सकल व्रज के लोग उद्भ्रान्त से थे॥ २॥

खाते पीते गमन करते बैठते और सोते।
आते जाते वन अवनि मे गोधनो को चराते।
देते लेते सकल व्रज की गोपिका गोपजो के।
जी मे होता उदय यह था क्यो नही श्याम आये॥ ३॥

दो प्राणी भी व्रज-अवनि के साथ जो बैठते थे।
तो आने की न मधुवन से बात ही थे चलाते।
पूछा जाता प्रतिथल मिथ व्यग्रता से यही था।
दोनो प्यारे कुँवर अब भी लौट के क्यो न आये॥ ४॥

आवासो मे सुपरिसर मे द्वार मे बैठको मे।
बाजारो मे विपणि सब मे मंदिरो मे मठो मे।
आने ही की न व्रजधन के बात फैली हुई थी।
कुजो मे औ पथ अ-पथ मे बाग मे औ वनो मे॥ ५॥

आना प्यारे मातृसुत का देखने के लिये ही।
कोई जाती प्रतिदिन चली मंडली उत्सुकों की।
ऊँचे ऊँचे तरु पर चढ़े गोप ढोटे अनेको।
घंटों बैठे तृषित दृग से पंथ को देखते थे॥६॥

आके बैठी निज सदन की शुभ्र ऊँची छतों में।
ताखो मे औ पथ पर बने दिव्य वातायनो में।
चिन्ता मग्ना विवश विकला उन्मना नारियों को।
दो ही आँखें सहस्र बन के देखती पथ को थी॥७॥

आके कागा यदि सदन में बैठता था कहीं भी।
तो तन्वंगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती।
जो आते हों कुँवर उड़ के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ भात दूँगी॥८॥

आता कोई मनुज मथुरा ओर से जो दिखाता।
नाना बातें सदुख उससे पूछते तो सभी थे।
यो ही जाता पथिक मथुरा ओर भी जो जनाता।
तो लोगो ही सकल उससे भेजते थे सँदेसे॥९॥

फूलो पत्तो सकल तरुओं औ लता वेलियो से।
आवासो से ब्रज अवनि से पंथ की रेणुओ से।
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननो से।
मेरे प्यारे कुँवर अब भी क्यों नहीं गेह आये॥१०॥

मालिनी छन्द

यदि दिन कट जाता बीतती थी न दोषा।
यदि निशि टलती थी वार था कल्प होता।
पल पल अकुलाती ऊबती थीं यशोदा।
रट यह रहती थी क्यो नहीं श्याम आये॥११॥

प्रति दिन कितनो को पथ मे भेजती थीं।
निज प्रिय सुत आना देखने के लिये ही।
नियत यह जताने के लिये थे अनेको।
सकुशल गृह दोनो लाडिले आ रहे है ॥१२॥

दिन दिन भर वे आ द्वार पै बैठती थी।
प्रिय पथ लखते ही वार को थी बिताती।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थी।
मम सुत गृह आता क्या कही था दिखाया ॥१३॥

अति अनुपम मेवे औ रसीले फलो को।
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को व्यञ्जनो को।
पथश्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को।
प्रतिदिन रखती थीं भाजनो मे सजा के ॥१४॥

जब कुँवर न आते वार भी बीत जाता।
तब बहु दुख पा के बॉट देती उन्हे थी।
दिनदिन उर मे थी वृद्धि पाती निराशा।
तम निविड़ दृगो के सामने हो रहा था ॥१५॥

जब पुरवनिता आ पूछती थी सँदेसा।
तब मुख उनका थी देखती उन्मना हो।
यदि कुछ कहना भी वे कभी चाहती थी।
न कथन कर पाती कंठ था रुद्ध होता ॥१६॥

यदि कुछ समझाती गेह की सेविकाये।
बन विकल उसे थी ध्यान मे भी न लाती।
तन सुधि तक खोती जा रही थी यशोदा।
अतिशय विमना औ चिन्तिता हो रही थी ॥१७॥

यदि दधि मथने को बैठती ग्वालियाँ थीं।
मथन-रव उन्हें था चैन लेने न देता।
यह कह कर के ही रोक देतीं उन्हें वे।
तुम सब मिल के क्या कान को फोड़ दोगी ॥१८॥

दुख-वश सब धंधे बन्द से हो गये थे।
गृह जन सब मारे काल को थे बिताते।
हरि-जननि-व्यथा से मौन थीं सारिकायें।
सकल सदन में ही छा गई थी उदासी ॥१९॥

प्रति दिन कितने ही देवता थीं मनाती।
बहु यजन कराती विप्र के वृन्द से थीं।
नित घर पर कोई ज्योतिषी थीं बुलाती।
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा ॥२०॥

सतत दिन कहीं जो डोलता पत्र भी था।
निज श्रवण उठाती थीं समुत्कण्ठिता हो।
कुछ रज उड़ती जो पंथ के मध्य योंही।
बन अयुत-दृगी तो वे उसे देखती थीं ॥२१॥

गृह दिशि यदि कोई शीघ्रता साथ आता।
तब उभय करों से थामतीं वे कलेजा।
जब वह दिखलाता दूसरी ओर जाता।
तब हृदय करों से ढाँपती थीं दृगों को ॥२२॥

मधुवन पथ से वे तीव्रता साथ आता।
यदि नभ तल में थीं देख पाती पखेरू।
उस पर कुछ ऐसी दृष्टि तो डालती थीं।
लख कर जिसको था भग्न होता कलेजा ॥२३॥

पथ पर न लगी थी दृष्टि ही उत्सुका हो।
न हृदय तल ही की लालसा वर्द्धिता थी।
प्रतिपल करता था लाडिलों की प्रतीक्षा।
यक यक तन रोआँ नंद की कामिनी का ॥२४॥

प्रतिपल दृग देखा चाहते श्याम को थे।
छनछन सुधि आती श्यामली मूर्त्ति की थी।
प्रति निमिष यही थी चाहती नन्दरानी।
निज वदन दिखावे मेघ सी कान्तिवाला ॥२५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

रो रो चिन्ता-सहित दिन को राधिका थी बिताती।
आँखो को थी सजल रखती उन्मना थी दिखाती।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थी।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी ॥२६॥

बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह मे थीं अकेली।
आके आँसू दृग-युगल मे थे धरा को भिगोते।
आई धीरे इस सदन मे पुष्प-सद्‌गंध को ले।
प्रात वाली सुपवन इसी काल वातायनो से ॥२७॥

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया।
चाहा सारा-कलुष तन का राधिका के मिटाना।
जो बूँदे थीं सजल दृग के पक्ष्म मे विद्यमाना।
धीरे धीरे क्षिति पर उन्हें सौम्यता से गिराया ॥२८॥

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें।
थोडी सी भी न सुखद हुई हो गईं वैरिणी सी।
भीनी भीनी महँक मन की शान्ति को खो रही थी।
पीडा देती व्यथित चित को वायु की स्निग्धता थी ॥२९॥

संतापों को विपुल बढ़ता देख के दुःखिता हो।
धीरे बोलीं सदुख उससे श्रीमती राधिका यों।
प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती।
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से॥३०॥

कालिन्दी के कल पुलिन पै घूमती सिक्त होती।
प्यारे प्यारे कुसुम-चय को चूमती गंध लेती।
तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को।
हा! पापिष्ठे फिर किस लिये ताप देती मुझे है॥३१॥

क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है।
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है।
मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे वामता को।
पीड़ा खो के प्रणतजन की है बड़ा पुण्य होता॥३२॥

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्रवाले।
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा।
मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूँ।
जा के मेरी सब दुख-कथा श्याम को तू सुना दे॥३३॥

हो पाये जो न यह तुझसे तो क्रिया-चातुरी से।
जाके रोने विकल बनने आदि ही को दिखा दे।
चाहे ला दे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी।
हा हा! मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे॥३४॥

तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बना दे॥३५॥

कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यानवाला।
ऊँचे ऊँचे धवल-गृह की पंक्तियों से प्रशोभी।
जो है न्यारा नगर मथुरा प्राणप्यारा वहीं है।
मेरा सूना सदन तज के तू वहाँ शीघ्र ही जा ॥३६॥

ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली सुखद कितनी मंजु कुंजें मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ जा न विश्राम लेना ॥३७॥

थोड़ा आगे सरस रव का धाम सत्पुष्पवाला।
अच्छे अच्छे बहु द्रुम लतावान सौन्दर्य्यशाली।
प्यारा वृन्दाविपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा।
आना जाना इस विपिन से मुह्यमाना न होना ॥३८॥

जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे।
तो जा के सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
धीरे धीरे परस करके गात उत्ताप खोना।
सद्गंधों से श्रमित जन को हर्षितों सा बनाना ॥३९॥

सलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से।
ले के नाना कुसुम कुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पथ में शान्ति पावे ॥४०॥

लज्जा शीला पथिक महिला जो कहीं दृष्टि आये।
होने देना विकृत - वसना तो न तू सुन्दरी को।
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना।
होंठों की औ कमल-मुख की म्लानतायें मिटाना ॥४१॥

जो पुष्पों के मधुर-रस को साथ आनन्द बैठे।
पीते होवें भ्रमर भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हों।
क्रीड़ा होवे न कलुषमयी केलि में हो न बाधा॥४२॥

कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कहीं भी कढ़े तू।
छू के नीला सलिल उसका अंग उत्ताप खोना।
जी चाहे तो कुछ समय वाँ खेलना पंकजों से।
छोटी छोटी सु-लहर उठा क्रीड़ितों को नचाना॥४३॥

प्यारे प्यारे तरु किसलयों को कभी जो हिलाना।
तो हो जाना मृदुल इतनी टूटने वे न पावें।
शाखापत्रों सहित जब तू केलि में लग्न हो तो।
थोड़ा सा भी न दुख पहुँचे शावकों को खगों के॥४४॥

तेरी जैसी मृदु-पवन से सर्वथा शान्ति-कामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।
मेरी सारी दुखमय दशा भूल उत्कण्ठ होके।
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वांग होना॥४५॥

कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना, तप्त भूतांगना को॥४६॥

उद्यानों में सु-उपवन में वापिका में सरो में।
फूलोंवाले नवल तरु में पत्र शोभी द्रुमों में।
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना।
कुंजों में औ कमल-कुल में वीथिका में वनों में॥४७॥

जाते जाते पहुँच मथुरा - धाम में उत्सुका हो।
न्यारी - शोभा वर नगर की देखना मुग्ध होना।
तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को।
आभावाले कलश जिनके दूसरे अर्क से हैं ॥४८॥

जी चाहे तो शिखर सम जो सद्म के हैं मुँडेरे।
वाँ जा ऊँची अनुपम - ध्वजा अङ्क मे ले उडाना।
प्रासादो मे अटन करना घूमना प्रांगणों में।
उद्युक्ता हो सकल सुर से गेह को देख जाना ॥४९॥

कुंजो बागों विपिन यमुना कूल या आलयों में।
सद्गंधो से भरित मुख की वास सम्बन्ध से आ।
कोई भौंरा विकल करता हो किसी कामिनी को।
तो सद्भावो सहित उसको ताडना दे भगाना ॥५०॥

तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
उद्यानो में वर नगर के सुन्दरी मालिनो को।
वे कार्य्यों मे स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी।
जो श्रान्ता हों सरस गति से तो उन्हे मोह लेना ॥५१॥

जो इच्छा हो सुरभि, तन के पुष्प सभार से ले।
आते जाते स-रुचि उनके प्रीतमों को रिझाना।
ऐ मर्मज्ञे रहित उससे युक्तियाँ सोच होना।
जैसे जाना निकट प्रिय के व्योम-चुम्बी गृहो के ॥५२॥

देखे पूजा समय मथुरा मन्दिरों मध्य जाना।
नाना वाद्यो मधुर-स्वर की मुग्धता को बढाना।
किम्वा ले के रुचिर तरु के शब्दकारी फलों को।
धीरे धीरे मधुर-रव से मुग्ध हो हो बजाना ॥५३॥

नीचे फूले कुसुम तरु के जो खड़े भक्त होवें।
किम्वा कोई उपल-गठिता-मूर्ति हो देवता की।
तो डालों को परम मृदुता मंजुता से हिलाना।
औ यों वर्षा कर कुसुम की पूजना पूजितों को ॥५४॥

तू पावेगी वर नगर में एक भूखंड न्यारा।
शोभा देते अमित जिसमें राज-प्रासाद होंगे।
उद्यानों में परम-सुषमा है जहाँ संचिता सी।
छीने लेते सरवर जहाँ वज्र की स्वच्छता है ॥५५॥

तू देखेगी जलद-तन को जा वहीं तद्गता हो।
होंगे लोने नयन उनके ज्योति-उत्कीर्णकारी।
मुद्रा होगी वर-वदन की मूर्ति सी सौम्यता की।
सीधे साधे वचन उनके सिक्त होंगे सुधा से ॥५६॥

नीले फूले कमल दल सी गात की श्यामता है।
पीला प्यारा वसन कटि में पैन्हते हैं फबीला।
छूटी काली अलक मुख की कान्ति को है बढ़ाती।
सद्वस्त्रों में नवल-तन की फूटती सी प्रभा है ॥५७॥

साँचे ढाला सकल वपु है दिव्य सौंदर्यशाली।
सत्पुष्पों सी सुरभि उस की प्राण संपोषिका है।
दोनों कंधे वृषभ-वर से हैं बड़े ही सजीले।
लम्बी बाँहें कलभ-कर सी शक्ति की पेटिका है ॥५८॥

राजाओं सा शिर पर लसा दिव्य आपीड होगा।
शोभा होगी उभय श्रुति में स्वर्ण के कुण्डलों की।
नाना रत्नाकलित भुज में मंजु केयूर होंगे।
मोतीमाला लसित उनका कम्बु सा कंठ होगा ॥५९॥

प्यारे ऐसे अपर जन भी जो वहाँ दृष्टि आवें।
देवों के से प्रथित-गुण से तो उन्हें चीन्ह लेना।
थोड़ी ही है वय तदपि वे तेजशाली बड़े हैं।
तारों मे है न छिप सकता कंत राका निशा का ॥६०॥

बैठे होंगे जिस थल वहाँ भव्यता भूरि होगी।
सारे प्राणी वदन लखते प्यार के साथ होंगे।
पाते होंगे परम निधियाँ लूटते रत्न होंगे।
होती होंगी हृदयतल की क्यारियाँ पुष्पिता सी ॥६१॥

बैठे होंगे निकट जितने शान्त औ शिष्ट होंगे।
मर्य्यादा का प्रति पुरुष को ध्यान होगा बड़ा ही।
कोई होगा न कह सकता बात दुर्वृत्तता की।
पूरा पूरा प्रति हृदय मे श्याम आतंक होगा ॥६२॥

प्यारे प्यारे वचन उनसे बोलते श्याम होंगे।
फैली जाती हृदय-तल मे हर्ष की बेलि होगी।
देते होंगे प्रथित गुण वे देख सद्दृष्टि द्वारा।
लोहा को छू कलित कर से स्वर्ण होंगे बनाते ॥६३॥

सीधे जाके प्रथम गृह के मंजु उद्यान मे ही।
जो थोड़ी भी तन-तपन हो सिक्त हो के मिटाना।
निर्धूली हो सरस रज से पुष्प के लिप्त होना।
पीछे जाना प्रियसदन मे स्निग्धता से बड़ी ही ॥६४॥

जो प्यारे के निकट बजती बीन हो मंजुता से।
किम्वा कोई मुरज-मुरली आदि को हो बजाता।
या गाती हो मधुर स्वर से मण्डली गायकों की।
होने पावे न स्वर लहरी अल्प भी तो विपन्ना ॥६५॥

जाते ही छू कमलदल से पाँव को पूत होना।
काली काली कलित अलके गराड शोभी हिलाना।
क्रीड़ाये भी ललित करना ले दुकूलादिको को।
धीरे धीरे परस तन को प्यार की बेलि बोना ॥६६॥

तेरे मे है न यह गुण जो तू व्यथाये सुनाये।
व्यापारो को प्रखर मति और युक्तियो से चलाना।
बैठे जो हो निज सदन मे मेघ सी कान्तिवाले।
तो चित्रो को इस भवन के ध्यान से देख जाना ॥६७॥

जो चित्रो मे विरह - विधुरा का मिले चित्र कोई।
तो जा जाके निकट उसको भाव से यो हिलाना।
प्यारे हो के चकित जिससे चित्र की ओर देखे।
आशा है यो सुरति उनको हो सकेगी हमारी ॥६८॥

जा कोई भी इस सदन मे चित्र उद्यान का हो।
औ हो प्राणी विपुल उसमे घूमते बावले से।
तो जाके सन्निकट उसके औ हिला के उसे भी।
देवात्मा को सुरति व्रज के व्याकुलो की कराना ॥६९॥

कोई प्यारा-कुसुम कुम्हला गेह मे जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसीको।
यो देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है ॥७०॥

जो प्यारे मंजु - उपवन या वाटिका मे खड़े हो।
छिद्रो मे जा क्वणित करना वेणु सा कीचको को।
यो होवेगी सुरति उनको सर्व गोपांगना की।
जो है वंशी श्रवण रुचि से दीर्घ उत्कण्ठ होती ॥७१॥

ला के फूले कमलदल को श्याम के सामने ही।
थोड़ा थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना।
यों देना ऐ भगिनि जतला एक अंभोजनेत्रा।
आँखों को हो विरह - विधुरा वारि में बोरती है ॥७२॥

धीरे लाना वहन कर के नीप का पुष्प कोई।
औ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना।
ऐसे देना प्रकट दिखला नित्य आशंकिता हो।
कैसी होती विरहवश मैं नित्य रोमांचिता हूँ ॥७३॥

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम होवें उसीका।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजड़ित चित का क्लान्त हो काँप जाना ॥७४॥

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना ॥७५॥

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे ही।
धीरे धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता सा हमारा ॥७६॥

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें।
धीरे धीरे वहन कर के पाँव की धूलि लाना।
थोड़ी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमें तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूँगी ॥७७॥

जो ला देगी चरणरज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी भगिनि उसको अंग मे मैं लगाके।
पोतूँगी जो हृदय तल मे वेदना दूर होगी।
डालूँगी मै शिर पर उसे आँख मे ले मलूँगी ॥७८॥

तू प्यारे का मृदुल स्वर ला मिष्ट जो है बड़ा ही।
जो यो भी है क्षरण करती स्वर्ग की सी सुधा को।
थोड़ा भी ला श्रवणपुट मे जो उसे डाल देगी।
मेरा सूखा हृदयतल तो पूर्ण उत्फुल्ल होगा ॥७९॥

भीनी भीनी सुरभि सरसे पुष्प की पोषिका सी।
मूलीभूता अवनितल मे कीर्ति कस्तूरिका की।
तू प्यारे के नवलतन की वास ला दे निराली।
मेरे ऊबे व्यथित चित मे शान्तिधारा बहा दे ॥८०॥

होते होवे पतित कण जो अङ्गरागादिको के।
धीरे धीरे वहन कर के तू उन्हींको उड़ा ला।
कोई माला कलकुसुम की कंठसंलग्न जो हो।
तो यत्नो से विकच उसका पुष्प ही एक ला दे ॥८१॥

पूरी होवे न यदि तुझसे अन्य बाते हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छू के प्यारे कमलपग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदयतल मे मै तुझीको लगाके ॥८२॥

भ्रांता हो के परम दुख औ भूरि उद्विग्नता से।
ले के प्रात मृदुपवन को या सखी आदिको को।
यो ही राधा प्रगट करती नित्य ही वेदनाये।
चिन्ताये थी चलित करती वर्द्धिता थी व्यथाये ॥८३॥

सप्तम सर्ग

—+-+—
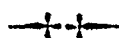
मन्दाक्रान्ता छन्द

ऐसा आया यक दिवस जो था महा मर्म्मभेदी।
प्राची ने हो दुखित भव के चित्रितो को विलोका।
धीरे धीरे तरणि निकला काँपता दग्ध होता।
काला काला ब्रज-अवनि में शोक का मेघ छाया॥ १॥

खा जाता पथ जिन दिनो नित्य ही श्याम का था।
सा खोटा यक दिन उन्हीं वासरो मध्य आया।
आँखे नीची जिस दिन किये शोक में मग्न होते।
खा आते सकल-ब्रज ने नन्द गोपादिको-को॥ २॥

खो के होवे विकल जितना आत्म-सर्वस्व कोई।
होती हैं ज्यो स्वमणि जितनी सर्प को वेदनायें।
दोनों प्यारे कुँवर तज के ग्राम मे आज आते।
पीड़ा होती अधिक उससे गोकुलाधीश को थी॥ ३॥

लज्जा से वे प्रथित-पथ मे पाँव भी थे न देते।
ती होता था व्यथित हरि का पूछते ही सँदेसा।
कुंजो मे हो विपथ चल वे आ रहे ग्राम मे थे।
ज्यो ज्यो आते निकट महि के मध्य जाते गड़े थे॥ ४॥

पाँवों को वे सँभल वल के साथ ही थे उठाते।
तो भी वे थे न उठ सकते हो गये थे मनो के।
मानो यों वे गृह गमन से नन्द को रोकते थे।
संक्षुब्धा हो सबल वहती थी जहाँ शोक-धारा ॥ ५ ॥

यानों से हो पृथक तज के संग भी साथियों का।
थोड़े लोगो सहित गृह की ओर वे आ रहे थे।
विक्षिप्तों सा वदन उनका आज जो देख लेता।
हो जाता था वहु व्यथित औ था महा कष्ट पाता ॥ ६ ॥

आँसू लाते कुशित दृग से फूटती थी निराशा।
छाई जाती वदन पर भी शोक की कालिमा थी।
सीधे जो थे न पग पड़ते भूमि मे वे वताते।
चिन्ता द्वारा चलित उनके चित्त की वेदनायें ॥ ७ ॥

भादोंवाली भयद रजनी सूचि - भेद्या अमा की।
ज्यों होती है परम असिता छा गये मेघ-माला।
त्योंही सारे-व्रज-सदन का हो गया शोक गाढ़ा।
तातो वाले व्रज नृपति को देख आता अकेले ॥ ८ ॥

एकाकी ही श्रवण करके कंत को गेह आता।
दौड़ी द्वारे जननि हरि की क्षिप्र की भाँति आईं।
वोंही आये व्रज अधिप भी सामने शोक-मग्न।
दोनों ही के हृदयतल की वेदना थी समाना ॥ ९ ॥

आते ही वे निपतित हुईं छिन्न मूला लता सी।
पाँवो के सन्निकट पति के हो महा खिन्नमाना।
संज्ञा आई फिर जब उन्हें यत्न द्वारा जनों के।
रो रो हो हो विकल पति से यों व्यथा साथ वोलीं ॥ १० ॥

मालिनी छन्द

प्रिय-पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है।
अब तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है॥११॥

पल पल जिसके मैं पथ को देखती थी।
निशि दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मंजुमाला।
वह नवनलिनी से नेत्रवाला कहाँ है॥१२॥

मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनों का उँजाला।
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है॥१३॥

प्रति दिन जिसको मैं अंक में नाथ ले के।
विधि लिखित कुअंकों की क्रिया कीलती थी।
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला।
वह किशलय के से अंगवाला कहाँ है॥१४॥

वर-वदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल-गत होता व्योम का चंद्रमा था।
मृदु-रव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधु-मय-कारी मानसों का कहाँ है॥१५॥

रस-मय वचनों से नाथ जो गेह मध्य।
प्रति दिवस बहाता स्वर्ग-मंदाकिनी था।
मम सुकृति वरा का स्रोत जो था सुधा का।
वह नव-घन न्यारी श्यामता का कहाँ है॥१६॥

स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी।
मम परम - निराशा - यामिनी का विनाशी।
ब्रज - जन विहगो के वृन्द का मोद - दाता।
वह दिनकर शोभी रामभ्राता कहाँ है ॥१७॥

मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी।
अनुपम जिसका हूँ शील सौजन्य पाती।
परदुख लख के है जो समुद्विग्न होता।
वह कृति सरसी का स्वच्छ सोता कहाँ है ॥१८॥

निविड़तम निराशा का भरा गेह में था।
वह किस विधु मुख की कान्ति को देख भागा।
सुखकर जिससे है कामिनी जन्म मेरा।
वह रुचिकर चित्रो का चितेरा कहाँ है ॥१९॥

सह कर कितने ही कष्ट औ सकटो को।
बहु यजन कराके पूज के निर्जरो को।
यक सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा।
प्रियतम! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है ॥२०॥

मुखरित करता जो सद्म को था शुको सा।
कलरव करता था जो खगो सा वनो मे।
सुध्वनित पिक सा जो वाटिका को बनाता।
वह बहु विध कठो का विधाता कहाँ है ॥२१॥

सुन स्वर जिसका थे मत्त होते मृगादि।
तरुगण - हरियाली थी महा दिव्य होती।
पुलकित बन जाती थी लसी पुष्प - क्यारी।
उस कल मुरली का नादकारी कहाँ है ॥२२॥

जिस प्रिय वर को खो ग्राम सूना हुआ है।
सदन सदन में हा! छा गई है उदासी।
तम वलित मही में है न होता उँजाला।
वह निपट निराली कान्तिवाला कहाँ है॥२३॥

वन वन फिरती है खिन्न गाये अनेको।
शुक भर भर आँखे गेह को देखता है।
सुधि कर जिसकी है शारिका नित्य रोती।
वह शुचि रुचि, स्वाती मंजु मोती कहाँ है॥२४॥

गृह गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ है।
पथ पथ फिरते है ग्वाल भी उन्मना हो।
जिस कुँवर बिना मै हो रही हूँ अधीरा।
वह छवि खनि शोभी स्वच्छ हीरा कहाँ है॥२५॥

मम उर कँपता था कंस-आतंक ही से।
पल पल डरती थी क्या न जाने करेगा।
पर परम-पिता ने की बडी ही कृपा है।
वह निज कृत पापों से पिसा आप ही जो॥२६॥

अतुलित बलवाले मल्ल कूटादि जो थे।
वह गज गिरि ऐसा लोक-आतंक-कारी।
अनु दिन उपजाते भीति थोड़ी नहीं थे।
पर यमपुर-वासी आज वे हो चुके हैं॥२७॥

भयप्रद जितनी थीं आपदाये अनेको।
यक यक कर के वे हो गईं दूर यो ही।
प्रियतम! अनसोची ध्यान मे भी न आई।
यह अभिनव कैसी आपदा आ पड़ी है॥२८॥

मृदु किशलय ऐसा पंकजो के दलो सा।
वह नवल सलोने गात का तात मेरा।
इन सब पवि ऐसे देह के दानवो का।
कब कर सकता था नाश कल्पान्त मे भी ॥२९॥

पर हृदय हमारा ही हमे है बताता।
सब शुभ - फल पाती हूँ किसी पुण्य ही का।
वह परम अनूठा पुण्य ही पापनाशी।
इस कुसमय मे है क्यो नही काम आता ॥३०॥

प्रिय - सुअन हमारा क्यो नही गेह आया।
वर नगर छटाये देख के क्या लुभाया?।
वह कुटिल जनो के जाल मे जा पड़ा है।
प्रियतम! उसको या राज्य का भोग भाया ॥३१॥

मधुर वचन से औ भक्ति भावादिको से।
अनुनय विनयो से प्यार की उक्तियो से।
सब मधुपुर - वासी बुद्धिशाली ,जनो ने।
अतिशय अपनाया क्या ब्रजाभूषणो को? ॥३२॥

वह विभव वहाँ का देख के श्याम भूला।
वह विलम गया या वृन्द मे बालको के।
फॅस कर जिस मे हा! लाल छूटा न मेरा।
सुफलक - सुत ने क्या जाल कोई बिछाया ॥३३॥

परम शिथिल हो के पंथ की क्लान्तियो से।
वह ठहर गया है क्या किसी वाटिका मे।
प्रियतम! तुम से या दूसरो से जुदा हो।
वह भटक रहा है क्या कहीं मार्ग ही में ॥३४॥

विपुल कलित कुंजे भानुजा कूलवाली।
अतुलित जिनमे थी प्रीति मेरे प्रियो की।
पुलकित चित से वे क्या उन्हींमे गये है।
कतिपय दिवसो की श्रान्ति उन्मोचने को ॥३५॥

विविध सुरभिवाली मण्डली बालको की।
मम युगल सुतो ने क्या कही देख पाई।
निज सुहृद जनो मे वत्स मे धेनुओ मे।
बहु विलम गये वे क्या इसीसे न आये? ॥३६॥

निकट अति अनूठे नीप फूले फले के।
कलकल बहती जो धार है भानुजा की।
अति-प्रिय सुत को है दृश्य न्यारा वहाँ का।
वह समुद उसे ही देखने क्या गया है? ॥३७॥

सित सरसिज ऐसे गात के श्याम भ्राता।
यदुकुल जन है औ वश के हैं उँजाले।
यदि वह कुलवालो के कुटुम्बी बने तो।
सुत सदन अकेले ही चला क्यो न आया ॥३८॥

यदि वह अति स्नेही शील सौजन्य शाली।
तज कर निज भ्राता को नहीं गेह आया।
व्रजअवनि बता दो नाथ तो क्यो बसेगी।
यदि वदन विलोकोगी न मैं क्यों बचूँगी ॥३९॥

प्रियतम! अब मेरा कंठ मे प्राण आया।
सच सच बतला दो प्राण प्यारा कहाँ है?
यदि मिल न सकेगा जीवनाधार मेरा।
तब फिर निज पापी प्राण मैं क्यों रखूँगी ॥४०॥

विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम! बतला दो लाल मेरा कहाँ है।
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो॥४१॥

उस वर-धन को मैं माँगती चाहती हूँ।
उपचित जिससे है वंश की वेलि होती।
सकल जगत प्राणी मात्र का वीज जो है।
भव-विभव जिसे खो है वृथा ज्ञात होता॥४२॥

इन अरुण प्रभा के रंग के पाहनों की।
प्रियतम! घर मेरे कौन सी न्यूनता है।
प्रति पल उर मे है लालसा वर्द्धमाना।
उस परम निराले लाल के लाभ ही की॥४३॥

युग दृग जिससे है स्वर्ग सी ज्योति पाते।
उर तिमिर भगाता जो प्रभापुंज से है।
कल द्युति जिसकी है चित्त उत्ताप खोती।
वह अनुपम हीरा नाथ मैं चाहती हूँ॥४४॥

कटि-पट लख पीले रत्न दूँगी लुटा मै।
तन पर सब नीले रत्न को वार दूँगी।
सुत-मुख-छवि न्यारी आज जो देख पाऊँ।
वहु अपर अनूठे रत्न भी बाँट दूँगी॥४५॥

धन विभव सहस्रो रत्न सतान देखे।
रज कण सम हैं औ तुच्छ हैं वे तृणो से।
पति इन सब को त्यो पुत्र को त्याग लाये।
मणि-गण तज लावे गेह ज्यो कॉच कोई॥४६॥

परम - सुयश वाले कोशलाधीश हा।
प्रिय - सुत वन जाते ही नहीं जी सके जो।
यह हृदय हमारा वज्र से ही बना है।
वह तुरत नहीं जो सैकडो खड होता ॥४७॥

निज प्रिय मणि को जो सर्प खोता कभी है।
तडप तड़प के तो प्राण है त्याग देता।
मम सदृश मही मे कौन पापीयसी है।
हृदय - मणि गँवा के नाथ जो जीविता हूँ ॥४८॥

लघुतर - सफरी भी भाग्य वाली बडी है।
अलग सलिल से ही प्राण जो त्यागती है।
अहह अवनि मे मैं हूँ महा भाग्यहीना।
अब तक बिछुडे जो लाल के जी सकी हूँ ॥४९॥

परम पतित मेरे पातकी - प्राण ए है।
यदि तुरत नहीं है गात को त्याग देते।
अहह दिन न जाने कौन सा देखने को।
दुखमय तन में ए निर्ममो से रुके हैं ॥५०॥

विधिवश इन में हा! शक्ति बाकी नहीं है।
तन तज सकने की, हो गये क्षीण ऐसे।
वह इस अवनी मे भाग्यवाली बडी है।
अवसर पर सोवे मृत्यु के अक में जो ॥५१॥

बहु कलप चुकी हूँ दग्ध भी हो चुकी हूँ।
जग कर कितनी ही रात मे रो चुकी हूँ।
अब न हृदय में है रक्त का लेश बाकी।
तन बल सुख आशा मैं सभी खो चुकी हूँ ॥५२॥

विधु मुख अवलोके मुग्ध होगा न कोई।
न सुखित ब्रजवासी कान्ति को देख होंगे।
यह अवगत होता है सुनी बात द्वारा।
अब वह न सकेगी शान्ति - पीयूष धारा ॥५३॥

सब दिन अति - सूना ग्राम सारा लगेगा।
निशि दिवस बडी ही खिन्नता से कटेंगे।
समधिक ब्रज मे जो छा गई है उदासी।
अब वह न टलेगी औ सदा ही खलेगी ॥५४॥

बहुत सह चुकी हूँ और कैसे सहूँगी।
पवि सदृश कलेजा मैं कहाँ पा सकूँगी।
इस कृशित हमारे गात को प्राण त्यागो।
बन विवश नहीं, तो नित्य रो रो मरूँगी ॥५५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परम - प्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्यवाले।
हा! बेटा हा! हृदय - धन हा! नेत्र-तारे हमारे ॥५६॥

कैसे होके अलग तुझसे आज भी मैं बची हूँ।
जो मै ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यो बताऊँ।
हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा ॥५७॥

यो ही बातें स-दुख कहते अश्रुधारा बहाते।
धीरे धीरे यशुमति लगी चेतना - शून्य होने।
जो प्राणी थे निकट उनके या वहाँ, भीत होके।
नाना यत्नो सहित उनको वे लगे बोध देने ॥५८॥

आवेगों से बहु विकल तो नन्द थे पूर्व ही से।
कान्ता को यों व्यथित लख के शोक में और डूबे।
बोले ऐसे वचन जिनसे चित्त में शान्ति आवे।
आशा होवे उदय उर में नाश पावे निराशा ॥५९॥

धीरे धीरे श्रवण करके नन्द की बात प्यारी।
जाते जो थे वपुष तज के प्राण वे लौट आये।
आँखें खोलीं हरि-जननि ने कष्ट से, और बोलीं।
क्या आवेगा कुँवर व्रज में नाथ दो ही दिनों में ॥६०॥

सारी बातें व्यथित उर की भूल के नन्द बोले।
हाँ आवेगा प्रिय-सुत प्रिये गेह दो ही दिनों में।
ऐसी बातें कथन कितनी और भी नन्द ने कीं।
जैसे तैसे हरि-जननि को धीरता से प्रबोधा ॥६१॥

जैसे स्वाती-सलिल-कण पा वृष्टि का काल बीते।
थोड़ी सी है परम तृषिता चातकी शान्ति पाती।
वैसे आना श्रवण करके पुत्र का दो दिनों में।
संज्ञा खोती यशुमति हुई स्वल्प आश्वासिता सी ॥६२॥

पीछे बातें कलप कहती काँपती कष्ट पाती।
आई लेके स्वप्रिय पति को सद्म में नंद-बामा।
आशा की है अमित महिमा धन्य है दिव्य आशा।
जो छू के है मृतक बनते प्राणियों को जिलाती ॥६३॥

द्रुतविलम्बित छन्द

जब हुआ ब्रजजीवन-जन्म था।
ब्रज प्रफुल्लित था कितना हुआ।
उमगती कितनी कृति मूर्त्ति थी।
पुलकते कितने नृप नंद थे ॥ ६ ॥

विपुल सुन्दर - वन्दनवार से।
सकल द्वार बने अभिराम थे।
विहँसते ब्रज - सद्म - समूह के।
वदन में दसनावलि थी लसी ॥ ७ ॥

नव - रसाल - सुपल्लव के बने।
अजिर में वर - तोरण थे बँधे।
विपुल - जीह विभूषित था हुआ।
वह मनो रस - लेहन के लिये ॥ ८ ॥

गृह गली मग मंदिर चौरहों।
तरुवरों पर थी लसती ध्वजा।
समुद सूचित थी करती मनो।
यह कथा ब्रज की सुरलोक को ॥ ९ ॥

विपणि में वर - वस्तु विभूषिता।
मणि मयी अलका सम थी लसी।
वर - वितान विमंडित ग्राम की।
सु छवि थी अमरावति - रंजिनी ॥ १० ॥

सजल कुंभ सुशोभित द्वार थे।
सुमन - संकुल थीं सब वीथियाँ।
अति - सु - चर्चित थे सब चौरहे।
रस प्रवाहित सा सब ठौर था ॥ ११ ॥

हा ! क्यों देखा मुदित उतना नन्द-नन्दांगना को ।
जो दोनों को दुखित इतना आज मैं देखता हूँ ।
वैसा फूला सुखित व्रज क्यों म्लान है नित्य होता ।
हा ! क्यों ऐसी दुखमय दशा देखने को बचा मैं ॥१८॥

या देखा था अनुपम सजे द्वार औ प्रांगणों को ।
आवासों को विपणि सबको मार्ग को मंदिरों को ।
या रोते से विषम जड़ता मग्न से आज ए हैं ।
देखा जाता अटल जिनमें राज्य मालिन्य का है ॥१९॥

मैंने हा हा सुखित जिनको सज्जिता था विलोका ।
क्यों वे गायें अहह ! दुख के सिंधु में मज्जिता हैं ।
जो ग्वाले थे मुदित अति ही मग्न आमोद में हो ।
हा ! आहों से मथित अब मैं क्यों उन्हें देखता हूँ ॥२०॥

भोलीभाली बहु विध सजी वस्त्र आभूषणों से ।
गानेवाली मधुर स्वर से सुन्दरी बालिकायें ।
जो प्राणी के परम मुद की मूर्तियाँ थीं उन्हें क्यों ।
खिन्ना दीना मलिन-वसना देखने को बचा मैं ॥२१॥

हा ! वाद्यों की मधुरध्वनि भी धूल में जा मिली क्या ।
हा ! कीला है किस कुटिल ने कामिनी-कण्ठ प्यारा ।
सारी शोभा सकल ब्रज की लूटता कौन क्यों है ? ।
हा ! हा ! मेरे हृदय पर यों साँप क्यों लोटता है ॥२२॥

आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का संग छोड़ो ।
देखो बैठी सदन करती क्या कई नारियाँ हैं ।
रोते रोते अधिकतर की लाल आँखें हुई हैं ।
जो ऊधो है कथन पहले मैं उसीका सुनाता ॥२३॥

जब सुव्यंजक भाव विचित्र के।
निकलते मुख - अस्फुट शब्द थे।
तब कढ़े अधराम्बुधि से कई।
जननि को मिलते वर रत्न थे ॥३०॥

अधर साध्य सु-व्योम समान थे।
दसन थे युगतारक से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनन्दिनी ॥३१॥

विमल चन्द्र विनिन्दक माधुरी।
विकच वारिज की कमनीयता।
वदन में जननी बलवीर के।
निरखती बहु विश्व विभूति थी ॥३२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

मैंने आँखों यह सब महा मोद नन्दांगना का।
देखा है औ सहस मुख से भाग को है सराहा।
छा जाती थी वदन पर जो हर्ष की कान्त लाली।
सो आँखों को अकथ रस में सिक्तिता थी बनाती ॥३३॥

हा! मैं ऐसी प्रमुद-प्रतिमा मोद-आन्दोलिता को।
जो पाती हूँ मलिन-वदना शोक में मज्जिता सी।
तो है मेरा हृदय मलता वारि है नेत्र लाता।
दावा सी है धधक उठती गात-रोमावली में ॥३४॥

जो प्यारे का वदन लख के स्वर्ग-सम्पत्ति पाती।
लूटे लेती सकल निधियाँ श्यामली-मूर्ति देखे।
हा! सो मेरे भवनतल में देखती है अँधेरा।
थोड़ी आशा झलक जिसमें है नहीं दृष्टि आती ॥३५॥

जब कभी कुछ ले कर पाणि में।
बदन में ब्रजनन्दन डालते।
चकित-लोचन से अथवा कभी।
निरखते जब वस्तु विशेष को ॥४२॥

प्रकृति के नग थे, तब खोलते।
विविध ज्ञान मनोहर ग्रंथि को।
दमकती नव श्री द्विगुणी शिखा।
महरि मानस मंजु प्रदीप की ॥४३॥

कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के।
चरण भूपर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ कटिकिंकिणी।
ध्वनित हो उठने गृह में लगी ॥४४॥

ठुमुकते गिरते पड़ते हुए।
जननि के कर की उँगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे।
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था ॥४५॥

क्वणित हो करके कटिकिंकिणी।
विदित थी करती इस बात को।
चकितकारक पण्डित मण्डली।
परम अद्भुत बालक है यही ॥४६॥

कलित नूपुर की कल-वादिता।
जगत को यह थी जतला रही।
कब भला न सजीव-सजीवता।
परस के पद पंकज पा सके ॥४७॥

सारी बातें दुखित वनिता की भरी दुःख-गाथा।
धीरे धीरे श्रवण करके एक बाला प्रवीणा।
हो हो खिन्ना विपुल पहले धीरता-त्याग रोई।
पीछे आहे भर विकल हो यों व्यथा-साथ बोली ॥५४॥

द्रुतविलम्बित छन्द

निकल के निज सुन्दर सद्म से।
जब लगे ब्रज में हरि घूमने।
जब लगी करने अनुरंजिता।
स्वपथ को पद पंकज लालिमा ॥५५॥

तब हुई मुदिता शिशु-मण्डली।
पुर-वधू सुखिता बहु हर्षिता।
विविध कौतुक और विनोद की।
विपुलता ब्रज-मंडल में हुई ॥५६॥

पहुँचते जब थे गृह में किसी।
ब्रज-लला हँसते मृदु बोलते।
ग्रहण थी करती अति-चाव से।
तब उन्हें सब सद्म-निवासिनी ॥५७॥

मधुर भाषण से गृह-बालिका।
अति समादर थी करती सदा।
सरस माखन औ दधि दान से।
मुदित थी करती गृह-स्वामिनी ॥५८॥

कमल लोचन भी कल उक्ति से।
सकल को करते अति मुग्ध थे।
कलित क्रीडन नूपुर नाद से।
भवन भी बनता अति भव्य था ॥५९॥

स - बलराम स - माता आनन्दी ।
जिसको सुहृद मंडित में कहे ।
जिसके हरि थे ब्याले कभी ।
शंकित चल किंधूपवन में मते ॥६०॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

ऐसे प्यारे ब्रज-अवनि में फेर ही लाड़िले को ।
होता कैसे प्रिय कुटिल ने क्यों यहाँ कौन भेजा ।
हा ! क्यों बोया गरल उसने स्निग्धकारी वनों में ।
कैसे छींटा सकल कुसुमोद्यान में कंटकों को ॥६१॥

लीलाकारी, ललित - गलियों, लोकलीलालयों में ।
क्रीड़ाकारी कलित कितने केलियाने थलों में ।
कैसे भूला ब्रज अवनि को कूल को भानुजा के ।
क्या थोड़ा भी हृदय गलता लाड़िले का न होगा ॥६२॥

क्या देखूँगी न अब कढ़ता इंदु को आलयों में ।
क्या फूलेगा न अब गृह में पद्म सौंदर्यशाली ।
मेरे छोटे विजन अब क्या सुखकारी न होंगे ।
क्या प्यारे का अब न मुखड़ा मंदिरों में दिखेगा ॥६३॥

हाथों में ले मधुर दधि को दीर्घ उत्कंठता से ।
घंटों बैठी गोचर - पथ जो आज भी देखती है ।
हा ! क्या ऐसी सरल-हृदया सद्म की स्वामिनी की ।
वांछा होगी न अब सफला श्याम को देख आँखों ॥६४॥

भोली भाली सुख सदन की सुन्दरी बालिकायें ।
जो प्यारे के कल कथन की आज भी उत्सुका हैं ।
क्रीड़ाकांक्षी सकल शिशु जो आज भी हैं स-आशा ।
हा ! धाता, क्या न अब उनकी कामना सिद्ध होगी ॥६५॥

प्रात वेला यक दिन गई नन्द के सद्म में थी।
बैठी लीला महरि अपने लाल की देखती थी।
न्यारी क्रीड़ा समुद करके श्याम थे मोद देते।
होठो मे भी विलसित सिता सी हँसी मोहती थी ॥६६॥

ज्यांही आँखे मुझ पर पड़ी प्यार के साथ वोली।
देखो कैसा सँभल चलता लाडिला है तुम्हारा।
क्रीड़ा मे है निपुण कितना है कलावान कैसा।
पाके ऐसा वर सुअन मैं भाग्यमाना हुई हूँ ॥६७॥

होवेगा सो सुदिन जव मैं आँख से देख लूँगी।
पूरी होती सकल अपने चित्त की कामनाये।
व्याहूँगी मैं जव सुअन को औ मिलेगी वधूटी।
तो जानूँगी अमरपुर की सिद्धि है सद्म आई ॥६८॥

ऐसी वाते उमग कहती प्यार से थी यशोदा।
होता जाता हृदय उनका उत्स आनद का था।
हा! ऐसे ही हृदय-तल मे शोक है आज छाया।
रोऊँ मैं या यह सव कहूँ या मरूँ क्या करूँ मैं ॥६९॥

यों ही वाते विविध कह कष्ट के साथ रो के।
आवेगों से व्यथित वन के दु:ख से दग्ध हो के।
सारे प्राणी व्रज-अवनि के दर्शनाशा सहारे।
प्यारे से हो पृथक, अपने वार को थे विताते ॥७०॥

नवम सर्ग

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

एकाकी व्रजदेव एक दिन थे बैठे हुए गेह में।
उत्सन्ना व्रजभूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बड़ी।
ऊधो-संज्ञक-ज्ञान-वृद्ध उनके जो एक सन्मित्र थे।
वे आये इस काल ही सदन में आनन्द में मग्न से ॥ १

आते ही मुख-म्लान देख हरि का वे दीर्घ-उत्कण्ठ हो।
बोले क्यों इतने मलीन प्रभु हैं ? है वेदना कौन सी।
फूले-पुष्प-विमोहिनी-विचकता क्या हो गई आपकी।
क्यों है नीरसता प्रसार करती उत्फुल्ल-अंभोज में ॥ २ ॥

बोले वारिद-गात पास विठला सम्मान से बन्धु को।
प्यारे सर्व-विधान ही नियति का व्यामोह से है भरा।
मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यन्त-उन्मुक्त था।
पाता हूँ अब मैं नितान्त उसको आवद्ध कर्त्तव्य में ॥ ३ ।

शोभा-संभ्रम-शालिनी-व्रज-धरा प्रेमास्पदा-गोपिका।
माता-प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता-पिता।
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है हमें ॥ ४ ॥

जी में बात अनेक बार यह थी मेरे उठी मैं चलूँ।
प्यारी-भावमयी सु-भूमि व्रज में दो ही दिनों के लिये।
बीते मास कई परन्तु अब भी इच्छा न पूरी हुई।
नाना कार्य-कलाप की जटिलता होती गई बाधिका ॥ ५ ।

योंही आत्म प्रसंग श्याम - वपु ने प्यारे सखा से कहा।
मर्य्यादा व्यवहार आदि ब्रज का पूरा बताया उन्हे।
ऊधो ने सब को स - आदर सुना स्वीकार जाना किया।
पीछे हो कर के विदा सुहृद से आये निजागार वे ॥१

प्रात काल अपूर्व - यान मॅंगवा औ साथ ले सूत को।
ऊधो गोकुल को चले सदय हो स्नेहाम्बु से भीगते।
वे आये जिस काल कान्त-ब्रज मे देखा महा - मुग्ध हो।
श्री वृन्दावन की मनोज्ञ - मधुरा श्यामायमाना - मही ॥१३॥

चूडाये जिसकी प्रशान्त - नभ में थीं दीखती दूर से।
ऊधो को सु - पयोद के पटल सी सद्धूम की राशि सी।
सो गोवर्धन श्रेष्ठ - शैल अधुना था सामने दृष्टि के।
सत्पुष्पो सुफलो प्रशंसित द्रुमों से दिव्य सर्वांग हो ॥१४

ऊँचा शीश सहर्ष शैल कर के था देखता व्योम को।
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार मे।
मैं हूँ सुन्दर मान दण्ड ब्रज की शोभा-मयी-भूमि का ॥१५॥

पुष्पो से परिशोभमान बहुश' जो वृक्ष अंकस्थ थे।
वे उद्घोषित थे सदर्प करते उत्फुल्लता मेरु की।
या ऊँचा कर के स- पुष्प कर को फूले द्रुमो व्याज-से।
श्री - पद्मा - प्रति के सरोज - पग को शैलेश था पूजता ॥१

नाना - निर्भर हो प्रसूत गिरि के संसिक्त उत्संग से।
हो हो शब्दित थे सवेग गिरते अत्यन्त - सौंदर्य्य से।
जो छींटे उड़तीं अनन्त पथ में थीं दृष्टि को मोहती।
शोभा थी अति ही अपूर्व उनके उत्थान की, 'पात' की ॥१७

देती मुग्ध बना किसे न जिनकी ऊँची शिखायें हिले।
शाखायें जिनकी विहग - कुल से थीं शोभिता शब्दिता।
चारों ओर विशाल - शैल - वर के थे राजते कोटिशः।
ऊँचे श्यामल पत्र - मान - विटपी पुष्पोपशोभी महा ॥२४॥

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिंशपा इङ्गुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े ॥२५॥

ऊँचे दाड़िम से रसाल - तरु थे औ आम्र से शिंशपा।
यों निम्नोच्च असंख्य-पादप कसे वृन्दाटवी मध्य थे।
मानो वे अवलोकते पथ रहे वृन्दावनाधीश का।
ऊँचा शीश उठा अपार - जनता के तुल्य उत्कण्ठ हो ॥२६॥

वंशस्थ छंद

गिरीन्द्र मे व्याप्त विलोकनीय थी।
वनस्थली मध्य प्रशंसनीय थी।
अपूर्व शोभा अवलोकनीय थी।
असेत जम्बालिनि - कूल जम्बु की ॥२७॥

सुपक्वता पेशलता अपूर्वता।
फलादि की मुग्धकरी विभूति थी।
रसाप्लुता सी बन मंजु भूमि को।
रसालता थी करती रसाल की ॥२८॥

सु - वर्तुलाकार विलोकनीय था।
विनम्र - शाखा नयनाभिराम थी।
अपूर्व थी श्यामल - पत्र - राशि में।
कदम्ब के पुष्प - कदम्ब की छटा ॥२९॥

हिला स्व-शाखा नव-पुष्प को खिला।
नचा सु-पत्रावलि औ फलादि ला।
नितान्त था मानस प्रान्थ मोहता।
सुकेलि-कारी तरु-नारिकेल का ॥३६॥

नितात लम्बी घनता विवर्द्धिनी।
असंख्य-पत्रावलि अंकधारिणी।
प्रगाढ़-छाया-मय पुष्पशोभिनी।
अम्लान काया-इमिली सुमौलि थी ॥३७॥

सु-चातुरी से किस के न चित्त को।
निमग्न सा था करता विनोद मे।
स्वकीय न्यारी-रचना विमुग्ध हो।
स्व-शीश-संचालन-मग्न शिशपा ॥३८॥

सु-पत्र संचालित थे न हो रहे।
नही स-शाखा हिलते फलादि थे।
जता रही थी निज स्नेह-शीलता।
स्व-इङ्गितो से रुचिरांग इङ्गुदी ॥३९॥

सुवर्ण-ढाले-तमगे कई लगा।
हरे सजीले निज-वस्त्र को सजे।
बडे-अनूठेपन साथ था खड़ा।
महा-रँगीला तरु-नागरग का ॥४०॥

अनेक-आकार-प्रकार-रंग के।
सुधा-समोये फल-पुंज से सजा।
विराजता अन्य रसाल तुल्य था।
प्रमोदकारी अमरूद रोदसी ॥४१॥

सु - पक्व पील फल - पुंज व्याज से ।
अनेक बालेंदु स्वअङ्क में उगा ।
उड़ा दलों व्याज हरी हरी ध्वजा ।
नितांत केला कल - केलि - लग्न था ॥४८॥

स्वकीय आरक्त प्रसून - पुंज से ।
विहग भृङ्गादिक को भ्रमा भ्रमा ।
अशंकितो सा वन - मध्य था खड़ा ।
प्रवंचना - शील विशाल - शाल्मली ॥४९॥

बढ़ा स्व-शाखा मिष हस्त प्यार का ।
दिखा घने - पल्लव की हरीतिमा ।
परोपकारी - जन - तुल्य सर्वदा ।
सशोक का शोक अ-शोक मोचता ॥५०॥

विमुग्धकारी - सित - पीत वर्ण के ।
सुगंध - शाली बहुश: सु - पुष्प से ।
असंख्य - पत्रावलि की हरीतिमा ।
सुरंजिता थी प्रिय - पारिजात की ॥५१॥

समीर - संचालित - पत्र - पुंज में ।
स्वगात की मत्तकरी - विभूति से ।
विमुग्ध हो विह्वलताभिभूत था ।
मधूक शाखी - मधुपान - मत्त सा ॥५२॥

प्रकाण्डता थी विभु कीर्त्ति - वर्द्धिनी ।
अनंत - शाखा - बहु - व्यापमान थी ।
प्रकाशिका थी पवन प्रवाह की ।
विलोलता - पीपल - पल्लवोद्भवा ॥५३॥

स - मान थी भूतल मे विलुण्ठिता।
प्रवंचिता हो प्रिय चारु - अंक से।
तमाल के से असितावदात की।
प्रियोपमा श्यामलता प्रियंगु की ॥६०॥

कहीं शयाना महि में स - चाव थी।
विलम्बिता थी तरु - वृन्द मे कहीं।
सु - वर्ण - मापी - फल लाभ कामुका।
तपोरता कानन रत्तिका लता ॥६१॥

सु - लालिमा मे फलकी लगी दिखा।
विलोकनीया - कमनीय - श्यामता।
कहीं भली है वनती कु - वस्तु भी।
वता रही थी यह मंजु - गुंजिका ॥६२॥

द्रुतविलम्बित छन्द

नव निकेतन कान्त - हरीतिमा।
जनयिता मुरली - मधु - सिक्त का।
सरसता लसता वन मध्य था।
भरित- भावुकता तरु वेणुका ॥६३॥

वहु-प्रलुब्ध वना पशु - वृन्द को।
विपिन के तृण - खादक - जंतु को।
तृण - समा- कर नीलम नीलिमा।
मसृण थी तृण-राजि विराजती ॥६४॥

तरु अनेक - उपस्कर सज्जिता।
अति - मनोरम - काय अकंटका।
विपिन को करती छविधाम थीं।
कुसुमिता - फलिता - बहु - झाड़ियाँ ॥६५॥

सु - पक्व पीले फल - पुंज व्याज से।
अनेक बालेंदु स्वअङ्क मे उगा।
उड़ा दलों व्याज हरी हरी ध्वजा।
नितांत केला कल - केलि - लग्न था ॥४८॥

स्वकीय आरक्त प्रसून - पुंज से।
विहंग भृङ्गादिक को भ्रमा भ्रमा।
अशंकितो सा वन - मध्य था खड़ा।
प्रवंचना - शील विशाल - शाल्मली ॥४९॥

बढ़ा स्व-शाखा मिष हस्त प्यार का।
दिखा घने - पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी - जन - तुल्य सर्वदा।
सशोक का शोक अ-शोक मोचता ॥५०॥

विमुग्धकारी - सित - पीत वर्ण के।
सुगंध - शाली बहुशः सु - पुष्प से।
असंख्य - पत्रावलि की हरीतिमा।
सुरंजिता थी प्रिय - पारिजात की ॥५१॥

समीर - संचालित - पत्र - पुंज मे।
स्वगात की मत्तकरी - विभूति से।
विमुग्ध हो विह्वलताभिभूत था।
मधूक शाखी - मधुपान - मत्त सा ॥५२॥

प्रकाण्डता थी विभु कीर्त्ति - वर्द्धिनी।
अनंत - शाखा - बहु - व्यापमान थी।
प्रकाशिका थी पवन प्रवाह की।
विलोलता - पीपल - पल्लवोद्भवा ॥५३॥

असंख्य - न्यारे - फल - पुंज से सजा।
प्रभूत - पत्रावलि मे निमग्न सा।
प्रगाढ़ - छायाप्रद औ जटा - प्रसू।
विटानुकारी - वट था विराजता ॥५४॥

महा - फलो से सजके वनस्थली।
जता रही थी यह बुद्धि - मंत को।
महान - सौभाग्य प्रदान के लिये।
प्रयोगिता है पनसोपयोगिता ॥५५॥

सदैव देके विष बीज - व्याज से
स्वकीय - मीठे - फल के समूह को।
दिखा रहा था तरु वृंद मे खड़ा।
स्व - आततायीपन पेड़ आत का ॥५६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

प्यारे - प्यारे - कुसुम - कुल से शोभमाना अनूठी।
काली नीली हरित रुचि की पत्तियों से सजीली।
फैली सारी वन अवनि मे वायु से डोलती थीं।
नाना - लीला निलय सरसा लोभनीया - लतायें ॥५७॥

वंशस्थ छन्द

स्व-सेत-आभा - मय दिव्य-पुष्प से।
वसुंधरा मे अति - मुक्त संज्ञका।
विराजती थी वन मे विनोदिता।
महान - मेधाविनि - माधवी - लता ॥५८॥

ललामता कोमलकान्ति - मानता।
रसालता से निज पत्र - पुंज की।
स्वलोचनो को करती प्रलुब्ध थी।
प्रलोभनीया - लतिका लवग की ॥५९॥

स - मान थी भूतल मे विलुण्ठिता ।
प्रवंचिता हो प्रिय चारु - अंक से ।
तमाल के से असितावदात की ।
प्रियोपमा श्यामलता प्रियंगु की ॥६०॥

कहीं शयाना महि मे स - चाव थी ।
विलम्बिता थी तरु - वृन्द मे कहीं ।
सु - वर्ण - मापी - फल लाभ कामुका ।
तपोरता कानन रत्तिका लता ॥६१॥

सु - लालिमा मे फलकी लगी दिखा ।
विलोकनीया - कमनीय - श्यामता ।
कहीं भली है बनती कु - वस्तु भी ।
बता रही थी यह मंजु - गुंजिका ॥६२॥

द्रुतविलम्बित छन्द

नव निकेतन कान्त - हरीतिमा ।
जनयिता मुरली - मधु - सिक्त का ।
सरसता लसता वन मध्य था ।
भरित भावुकता तरु वेणुका ॥६३॥

बहु-प्रलुब्ध बना पशु - वृन्द को
विपिन के तृण - खादक - जंतु को ।
तृण - समा कर नीलम नीलिमा ।
मसृण थी तृण-राजि विराजती ॥६४॥

तरु अनेक - उपस्कर सज्जिता ।
अति - मनोरम - काय अकंटका ।
विपिन को करती छविधाम थी ।
कुसुमिता - फलिता - बहु - झाड़ियाँ ॥६५॥

शिखरणी छन्द

अनूठी आभा से सरस - सुषमा से सुरस से।
वना जो देती थी वहु गुणमयी भू विपिन को।
निराले फूलों की विविध दलवाली अनुपमा।
जड़ी बूटी हो हो बहु फलवती थी विलसती ॥६६॥

द्रुतविलम्बित छन्द

सरसतालय सुन्दरता सने।
मुकुर - मंजुल से तरु - पुंज के।
विपिन मे सर थे वहु सोहते।
सलिल से लसते मन मोहते ॥६७॥

लसित थीं रस - सिंचित वीचियाँ।
सर समूह मनोरम अंक में।
प्रकृति के कर थे लिखते मनो।
कल - कथा जल केलि कलाप की ॥६८॥

द्युतिमती दिननायक दीप्ति से।
स द्युति वारि सरोवर का बना।
अति - अनुत्तम कांति निकेत था।
कुलिश सो कल - उज्ज्वल - काँच सा ॥६९॥

परम - स्निग्ध मनोरम - पत्र में।
सु - विकसे जलजात - समूह से।
सर अतीव अलंकृत थे हुए।
लसित थीं दल पै कमलासना ॥७०॥

विकच - वारिज - पुंज विलोक के।
उपजती उर मे यह कल्पना।
सरस भूत प्रफुल्लित नेत्र से।
वन - छटा सर हैं अवलोकते ॥७१॥

वंशस्थ छन्द

सुकूल - वाली कलि - कालिमापहा।
विचित्र - लीला - मय वीचि - संकुला।
विराजमाना बन एक ओर थी।
कलामयी केलिवती - कलिंदजा ॥७२॥

असेवत साभा सरिता - प्रवाह में।
सु - श्वेतता हो मिलिता प्रदीप्ति की।
दिखा रही थी मणि नील - कांति में।
मिली हुई हीरक - ज्योति - पुंज सी ॥७३॥

विलोकनीया नभ नीलिमा समा।
नवाम्बुदो की कल - कालिमोपमा।
नवीन तीसी कुसुमोपमेय थी।
कलिंदजा की कमनीय श्यामता ॥७४॥

न वास किम्बा विष से फणीश के।
प्रभाव से भूधर के न भूमि के।
नितांत ही केशव - ध्यान - मग्न हो।
पतंगजा थी असितांगिनी बनीं ॥७५॥

स - बुद्बुदा फेन - युता सु - शब्दिता।
अनंत - आवर्त्त - मयी प्रफुल्लिता।
अपूर्वता अंकित सी प्रवाहिता।
तरंगमालाकुलिता - कलिंदजा ॥७६॥

प्रसूनवाले, फल - भार से नये।
अनेक थे पादप कूल पै लसे।
स्वछाययया जो करते प्रगाढ़ थे।
दिनेशजा - अंक - प्रसूत - श्यामता ॥७७॥

कभी खिले - फूल गिरा प्रवाह मे ।
कलिन्दजा को करता स - पुष्प था ।
गिरे फलो से फल - शोभिनी उसे ।
कभी बनाता तरु का समूह था ।।७८।।

विलोक ऐसी तरुवृंद की क्रिया ।
विचार होता यह था स्वभावतः ।
कृतज्ञता से नत हो स - प्रेम वे ।
पतंगजा - पूजन मे प्रवृत्त हैं ।।७९।।

प्रवाह होता जब वीचि - हीन था ।
रहा दिखाता वन - अन्य अंक मे ।
परंतु होते सरिता तरंगिता ।
स - वृक्ष होता वन था सहस्रधा ।।८०।।

न कालिमा है मिटती कपाल की ।
न बाप को है पड़ती कुमारिका ।
प्रतीति होती यह थी विलोक के ।
तमोमयी सी तनया - तमारि को ।।८१।।

मालिनी छन्द

कलित-किरण-माला, बिम्ब - सौंदर्य्य - शाली ।
सु - गगन तल - शोभी सूर्य का, या शशी का ।
जब रवितनया ले केलि मे लग्न होती ।
छविमय करती थी दर्शको के दृगो को ।।८२।।

वंशस्थ छंद

हरीतिमा का सु - विशाल - सिंधु सा ।
मनोज्ञता की रमणीय - भूमि सा ।
विचित्रता का शुभ - सिद्ध - पीठ सा ।
प्रशान्त - वृन्दावन दर्शनीय था ।।८३।।

कलोलकारी खग - वृन्द - कूजिता।
सदैव सानन्द मिलिन्द गुंजिता।
रही सुकुंजे वन में विराजिता।
प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी ॥८४॥

प्रशस्त - शाखा न समान हस्त के।
प्रसारिता थी उपपत्ति के बिना।
प्रलुब्ध थी पादप को बना रही।
लता समालिंगन लाभ लालसा ॥८५॥

कई निराले तरु चारु - अंक मे।
लुभावने - लोहित पत्र थे लसे।
सदैव जो थे करते विवर्द्धिता।
स्व - लालिमा से वन की ललामता ॥८६॥

प्रसून - शोभी तरु - पुंज - अंक मे।
लसी ललामा लतिका प्रफुल्लिता।
जहाँ तहाँ थी वन मे विराजिता।
स्मिता - समालिंगित कामिनी समा ॥८७॥

सुदूलिता थी अति कान्त भाव से।
कहीं स - एलालतिका - लवंग की।
कहीं लसी थीं महि मंजु अंक मे।
सु-लालिता सी नव माधवी - लता ॥८[illegible]

..मीर संचालित मंद - मंद हो।
कहीं दलो से करता सु - केलि था।
प्रसून - वर्षा - रत था, कहीं हिला।
स-पुष्प-शाखा सु - लता - प्रफुल्लिता ॥८९॥

कहीं उठाता बहु - मंजु वीचियॉ।
कहीं खिलाता कलिका प्रसून की।
बड़े अनूठेपन साथ पास जा।
कहीं हिलाता कमनीय - कंज था ॥९०॥

अश्वेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी।
हरे अबीरी सित पीत संदली।
विचित्र - वेशी बहु अन्य वर्ण के।
विहग से थी लसिता वनस्थली ॥९१॥

विभिन्न - आभा रत रंग रूप के।
विहंगमो का दल व्योम - पंथ हो।
स - मोद आता जब था दिगंत से।
विशेष होता वन का विनोद था ॥९२॥

स - मोद जाते जब एक पेड़ से।
द्वितीय को तो करते विमुग्ध थे।
कलोल मे हो रत मंजु - बोलते।
विहंग नाना रमणीय रंग के ॥९३॥

छटामयी कान्तिमती मनोहरा।
सु - चन्द्रिका से निज-नील पुच्छ के।
सदा बनाता वन को मनोज्ञ था।
कलापियो का कुल केकिनी लिये ॥९४॥

कहीं शुको का दल बैठ पेड की।
फली - सु - शाखा पर केलि-मत्त हो।
अनेक - मीठे - फल खा कदंश को।
गिरा रहा भू पर था प्रफुल्ल हो ॥९५॥

कहीं कपोती स्व - कपोत को लिये।
विनोदिता हो करती विहार थी।
कहीं सुनाती निज - कंत साथ थी।
स्व - काकली को कल कंठ - कोकिला ।।९६।।

कहीं महा - प्रेमिक था पपीहरा।
कथा - मयी थी नव शारिका कहीं।
कहीं कला - लोलुप थी चकोरिका।
ललामता - आलय - लाल थे कहीं ।।९७।।

महा - कदाकार बड़े - भयावने।
सुहावने सुन्दरता - निकेत से।
वनस्थली मे पशु - वृन्द थे घने।
अनेक लीला - मय औ लुभावने ।।९८।।

नितान्त-सारल्य - मयी - सुमूर्त्ति मे।
मिली हुई कोमलता सु - लोमता।
किसे नही थी करती विमोहिता।
सदंगता - सुन्दरता - कुरंग की ।।९९।।

असेत - ऑखे खनि-भूरि भाव की।
सुगीत न्यारी - गति की मनोज्ञता।
मनोहरा थी मृग - गात - माधुरी।
सुधारियो अंकित जाति - पीतता ।।१

असेत - रक्तानन - वान ऊधमी।
प्रलम्ब - लांगूल विभिन्न - लोम के।
कही महा - चंचल क्रूर कौशली।
असंख्य - शाखा - मृग का समूह था ।।१०१।।

कहीं गठीले - अरने अनेक थे।
स - शंक भूरे - शशकादि थे कहीं।
बड़े - घने निर्जन - वन्य - भूमि में।
विचित्र - चीते चल - चक्षु थे कहीं ॥१०२॥

सुहावने पीवर - ग्रीव साहसी।
प्रमत्त - गामी पृथुलांग - गौरवी।
वनस्थली मध्य विशाल - बैल थे।
बड़े - बली उन्नत - वक्ष विक्रमी ॥१०३॥

दयावती पुण्य भरी पयोमयी।
सु - आनना सौम्य - दृगी समादरा।
वनान्त मे थी सुरभी सुशोभिता।
सधी सवत्सा - सरलातिसुन्दरी ॥१०४॥

अतीव - प्यारे मृदुता - सुमूर्त्ति से।
नितान्त - भोले चपलांग ऊधमी।
वनान्त मे थे बहु वत्स कूदते।
लुभावने कोमल - काय कौतुकी ॥१०५॥

वसन्ततिलका छन्द

जो राज - पंथ वन - भूतल मे बना था।
धीरे उसी पर सधा रथ जा रहा था।
हो हो विमुग्ध रुचि से अवलोकते थे।
ऊधो छटा विपिन की अति ही अनूठी ॥१०६॥

वंशस्थ छन्द

परन्तु वे पादप मे प्रसून मे।
फलों दलो बेलि - लता समूह मे।
सरोवरो मे सरि मे सु - मेरु मे।
खगो मृगो मे वन मे निकुञ्ज में ॥१०७॥

बसी हुई एक निगूढ़ - खिन्नता ।
विलोकते थे निज - सूक्ष्म - दृष्टि से ।
शनैः शनैः जो बहु गुप्त रीति से ।
रही बढ़ाती उर की बिरक्ति को ॥१०८॥

प्रशस्त शाखा तरु - वृन्द की उन्हें ।
प्रतीत होती उस हस्त तुल्य थी ।
स - कामना जो नभ ओर हो उठा ।
विपन्न - पाता - परमेश के लिये ॥१०९॥

कलिन्दजा के सु - प्रवाह की छटा ।
विहंग - क्रीड़ा कल नाद - माधुरी ।
उन्हे बनाती न अतीव मुग्ध थी ।
ललामता - कुंज - लता - वितान की ॥११०॥

सरोवरो की सुषमा स - कंजता ।
सु - मेरु औ निर्झर आदि रम्यता ।
न थी यथातथ्य उन्हे विमोहती ।
अनन्त - सौंदर्य्य - मयी वनस्थली ॥१११॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

कोई कोई विटप फल थे बारहो मास लाते ।
आँखो द्वारा असमय फले देख ऐसे द्रुमो को ।
ऊधो होते भ्रम पतित थे किन्तु तत्काल ही वे ।
शंकाओ को स्व - मति बल औ ज्ञान से थे हटाते ॥११२॥

वंशस्थ छन्द

उसी दिशा से जिस ओर दृष्टि थी ।
विलोक आता रथ मे स - सारथी ।
किसी किरीटी पट - पीत - गौरवी ।
सु-कुण्डली श्यामल-काय पान्थ को ॥११३॥

अतीव - उत्कण्ठित ग्वालबाल हो।
स - वेग जाते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे।
न देखते थे जब वे मुकुन्द को ॥११४॥

अनेक गायें तृण त्याग दौड़ती।
सवत्स जाती वर - यान पास थी।
परन्तु पाती जब थीं न श्याम को।
विषादिता हो पड़ती नितान्त थीं ॥११५॥

अनेक - गायों बहु - गोप - बाल की।
विलोक ऐसी करुणामयी - दशा।
बड़े - सुधी - ऊधव चित्त मध्य भी।
स - खेद थी अंकुरिता अधीरता ॥११६॥

समीप ज्यों ज्यों हरि - बंधु यान के।
सगोष्ठ था गोकुल ग्राम आ रहा।
उन्हें दिखाता निज - गूढ़ रूप था।
विषाद त्यों त्यों बहु - मूर्त्ति-मन्त हो ॥११७॥

दिनान्त था थे दिननाथ डूबते।
स - धेनु आते गृह ग्वाल - बाल थे।
दिगन्त में गोरज थी विराजिता।
विषाण नाना बजते स - वेणु थे ॥११८॥

खड़े हुए थे पथ गोप देखते।
स्वकीय - नाना - पशु-वृन्द का कहीं।
कहीं उन्हें थे गृह - मध्य बाँधते।
बुला बुला प्यार उपेत कंठ से ॥११९॥

घड़े लिये कामिनियाँ, कुमारियाँ।
अनेक - कूपो पर थी सुशोभिता।
पधारती जो जल ले स्व - गेह थी।
वजा वजा के निज नूपुरादि को ॥१२०॥

कही जलाते जन गेह - दीप थे।
कही खिलाते पशु को स - प्यार थे।
पिला पिला चंचल - वत्स को कही।
पयस्विनी से पय थे निकालते ॥१२१॥

मुकुन्द की मंजुल कीर्ति गान की।
मची हुई गोकुल मध्य धूम थी।
स - प्रेम गाती जिसको सदैव थी।
अनेक - कर्माकुल प्राणि - मण्डली ॥१२२॥

हुआ इसी काल प्रवेश ग्राम मे।
शनैः शनैः ऊधव - दिव्य - यान का।
विलोक आता जिसको, समुत्सुका।
वियोग - दग्धा - जन - मण्डली हुई ॥१२३॥

जहाँ लगा जो जिस कार्य्य मे रहा।
उसे वहाँ ही वह छोड़ दौड़ता।
समीप आया रथ के प्रमत्त सा।
विलोकने को घन - श्याम - माधुरी ॥१२४॥

विलोकते जो पशु - वृन्द पन्थ थे।
तजा उन्होने पथ का विलोकना।
अनेक दौड़े तज धेनु बाँधना।
अवाधिता पावस आपगोपमा ॥१२५॥

रहे खिलाते पशु धेनु - दूहते।
प्रदीप जो थे गृह - मध्य बालते।
अधीर हो वे निज - कार्य्य त्याग के।
स - वेग दौड़े वदनेन्दु देखने ॥१२६॥

निकालती जो जल कूप से रही।
स रज्जु सो भी तज कूप मे घड़ा।
अतीव हो आतुर दौड़ती गई।
व्रजांगना - वल्लभ को विलोकने ॥१२७॥

तजा किसीने जल से भरा घड़ा।
उसे किसीने शिर से गिरा दिया।
अनेक दौड़ी सुधि गात की गॅवा।
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने ॥१२८॥

वयस्क बूढ़े पुर - बाल बालिका।
सभी समुत्कण्ठित औ अधीर हो।
स - वेग आये ढिग मंजु यान के।
स्व - लोचनो की निधि - चारु लूटने ॥१२९॥

उमंग - डूबी अनुराग से भरी।
विलोक आती जनता समुत्सुका।
पुन उसे देख हुई प्रवंचिता।
महा - मलीना विमनाति - कुण्ठिता ॥१३०॥

अधीर होने हरि - बन्धु भी लगे।
तथापि वे छोड़ सके न धीर को।
स्व - यान को त्याग लगे प्रबोधने।
समागतो को अति - शांत भाव से ॥१३१॥

वसंततिलका छन्द

यो ही प्रबोध करते पुरवासियों का।
प्यारी - कथा परम-शांत-करी सुनाते।
आये व्रजाधिप - निकेतन पास ऊधो।
पूरा प्रसार करती करुणा जहाँ थी ॥१३२॥

मालिनी छन्द

करुण-नयन वाले खिन्न उद्विग्न ऊबे।
नृपति सहित प्यारे बंधु औ सेवको के।
सुअन-सुहृद-ऊधो पास आये यहाँ ही।
फिर सदन सिधारे वे उन्हे साथ लेके ॥१३३॥

सुफलक-सुत ऐसा ग्राम मे देख आया।
यक जन मथुरा ही से बड़ा-बुद्धिशाली।
समधिक चित-चिंता गोपजो मे समाई।
सब-पुर-उर शंका से लगा व्यग्र होने ॥१३४॥

पल पल अकुला के दीर्घ - संदिग्ध होके।
विचलित-चित से थे सोचते ग्रामवासी।
वह परम अनूठे-रत्न आ ले गया था।
अब यह व्रज आया कौन सा रत्न लेने ॥१३५॥

दशम सर्ग
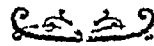
द्रुतविलम्बित छन्द

त्रि - घटिका रजनी गत थी हुई।
सकल गोकुल नीरव - प्राय था।
ककुभ व्योम समेत शनै शनै।
तमवती बनती व्रज - भूमि थी ॥ १ ॥

व्रज - धराधिप मौन - निकेत भी।
बन रहा अधिकाधिक - शान्त था।
तिमिर भी उसके प्रति - भाग मे।
स्व - विभुता करता विधि - बद्ध था ॥ २ ॥

हरि - सखा अवलोकन - सूत्र से।
व्रज - रसापति - द्वार - समागता।
अब नहीं दिखला पड़ती रही।
गृह - गता - जनता अति शंकिता ॥ ३ ॥

सकल - श्रांति गँवा कर पंथ की।
कर समापन भोजन की क्रिया।
हरि सखा अधुना उपनीत थे।
द्युति - भरे - सुथरे - यक - सद्म मे ॥ ४॥

कृश - कलेवर चिन्तित व्यस्त धी।
मलिन आनन खिन्नमना दुखी।
निकट ही उनके व्रज - भूप थे।
विकलताकुलता - अभिभूत से ॥ ५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

आवेगो से विपुल विकला शीर्ण काया कृशांगी।
चिन्ता-दग्धा व्यथित - हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा।
आसीना थी निकट पति के अम्बु - नेत्रा यशोदा।
खिन्ना दीना विनत - वदना मोह - मग्ना मलीना ॥

द्रुतविलम्बित छन्द

अति - जरा - विजिता बहु-चिन्तिता।
विकलता - ग्रसिता सुख - वंचिता।
सदन मे कुछ थीं परिचारिका।
अधिकृता - कृशता - अवसन्नता ॥ ७॥

मुकुर उज्ज्वल - मंजु निकेत मे।
मलिनता - अति थी प्रतिविम्बिता।
परम - नीरसता - सह - आवृता।
सरसता - शुचिता - युत - वस्तु थी ॥ ८॥

परम - आदर - पूर्वक प्रेम से।
विपुल - बात वियोग - व्यथा - हरी।
हरि - सखा कहते इस काल थे।
बहु दुखी अ - सुखी व्रज - भूप से ॥ ९॥

विनय से नय से भय से भरा।
कथन ऊधव का मधु मे पगा।
श्रवण थी करती बन उत्सुका।
कलपती - कँपती व्रजपांगना ॥१०॥

निपट - नीरब - गेह न था हुआ।
वरन हो वह भी वहु - मौन ही।
श्रवण था करता बलवीर की।
सुखकरी कथनीय गुणावली ॥११॥

मालिनी छन्द

निज मथित - कलेजे को व्यथा साथ थामे।
कुछ समय यशोदा ने सुनी सर्व - बाते।
फिर वह विमना हो व्यस्त हो कंपिता हो।
निज-सुअन-सखा से यो व्यथा-साथ बोली ॥१२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

प्यासा - प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को।
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न पावे।
हो पाता है 'कब तरणि का नाम ही त्राण-कारी।
नौका ही है शरण जल मे मग्न होते जनो की ॥१३॥

रोते रोते कुँवर - पथ को देखते देखते ही।
मेरी आँखे अहह अति ही ज्योति - हीना हुई है।
कैसे ऊधो भव - तम - हरी - ज्योति वे पा सकेगी।
जो देखेगी न मृदु - मुखड़ा इन्दु - उन्माद - कारी ॥१४॥

सम्वादो से श्रवण - पुट भी पूर्ण से हो गये है।
थोड़ा छूटा न अब उनमे स्थान सन्देश का है।
साय प्राय. प्रति - पल यही एक - वांछा उन्हे है।
प्यारी - वाते मधुर - मुख की मुग्ध हो क्यो सुने वे ॥१५॥

ऐसे भी थे दिवस जब थी चित्त मे वृद्धि पाती।
सम्वादो को श्रवण करके कष्ट उन्मूलनेच्छा।
ऊधो बीते दिवस अब वे, कामना है विलीना।
भोले भाले विकच मुख की दर्शनोत्कण्ठता मे ॥१६॥

प्यासे की है न जल - कण से दूर होती पिपासा।
बातो से है न अभिलषिता शान्ति पाता वियोगी।
कष्टो मे अल्प उपशम भी क्लेश को है घटाता।
जो होती है तदुपरि व्यथा सो महा दुर्भगा है ॥१७॥

मालिनी छन्द

सुत सुखमय स्नेहो का समाधार सा है।
सदय हृदय है औ सिंधु सौजन्य का है।
सरल प्रकृति का है शिष्ट है शान्त धी है।
वह बहु विनयी, 'है मूर्त्ति आत्मीयता की' ॥१८॥

तुम सम मृदुभाषी धीर सद्‌बंधु ज्ञानी।
उस गुण-मय का है दिव्य सम्वाद लाया।
पर मुझ दुख - दग्धा भाग्यहीनांगना की।
यह दुख - मय - दोषा वैसि ही है स-दोषा ॥१९॥

हृदय - तल दया के उत्स - सा श्याम का है।
वह पर - दुख को था देख उन्मत्त होता।
प्रिय-जननि उसीकी आज है शोक-मग्ना।
वह मुख दिखला भी क्यो न जाता उसे है ॥२०॥

मृदुल-कुसुम-सा है औ तुने तूल-सा है।
नव-किशलय-सा है स्नेह के उत्स - सा है।
सदय-हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही।
अहह हृदय माँ - सा स्निग्ध तो भी नहीं है ॥२१॥

कर-निकर सुधा से सिक्त राका शशी के।
प्रतपित कितने ही लोक को है बनाते।
विधि-वश दुख-दाई काल के कौशलो से।
कलुषित बनती है स्वच्छ - पीयूष - धारा ॥२२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

मेरे प्यारे स - कुशल सुखी और सानन्द तो है।
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ?।
ऊधो छाती वदन पर है म्लानता भी नहीं, तो ?।
हो जाती है हृदयतल मे तो नहीं वेदनाये ? ॥२३॥

मीठे - मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना।
उत्कण्ठा के सहित सुत को कौन होगी खिलाती।
प्रातः पीता सु - पय कजरी गाय का चाव से था।
हा ! पाता है न अब उसको प्राण - प्यारा हमारा ॥२४॥

संकोची है अति सरल है धीर है लाल मेरा।
होती लज्जा अमित उसको मॉगने मे सदा थी।
जैसे ले के स - रुचि सुत को अंक मे मै खिलाती।
हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन माता सकेगी ॥२५॥

मै थी सारा - दिवस मुख को देखते ही बिताती।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी।
हा ! ऐसे ही अब वदन को देखती कौन होगी।
ऊधो माता - सदृश ममता अन्य की है न होती ॥२६॥

खाने पीने शयन करने आदि की एक - बेला।
जो जाती थी कुछ टल कभी तो बड़ा खेद होता।
ऊधो ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी।
माता की सी अवनितल मे है अ - माता न होती ॥२७॥

जो पाती हूँ कुँवर - मुख के जोग मैं भोग - प्यारा।
तो होती है हृदय - तल मे वेदनायें - बड़ी ही।
जो कोई भी सु - फल सुत के योग्य मैं देखती हूँ।
हो जाती हूँ परम व्यथिता, हूँ महादग्ध होती ॥२८॥

जा लाती थीं विविध - रँग के मुग्धकारी खिलौने।
वे आती है सदन अब भी कामना मे पगी सी।
हा! जाती है पलट जब वे हो निराशा - निमग्ना।
तो उन्मत्ता - सदृश पथ की ओर मै देखती हूँ ॥२९॥

आते लीला निपुण - नट है आज भी बाँध आशा।
कोई यो भी न अब उनके खेल को देखता है।
प्यारे होते मुदित जितने कौतुकों से सदा ही।
वे आँखो मे विषम - द्रव है दर्शको के लगाते ॥३०॥

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।
ए बाते है सरस नवनी देखते याद आती।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी ॥३१॥

हा! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी।
सो आले मे मलिन बन औ मूक हो के पड़ी है।
जो छिद्रो से अमृत बरसा मूर्त्ति थी मुग्धता की।
सो उन्मत्ता परम - विकला उन्मना है बनाती ॥३२॥

प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है?।
क्या होता है न अब उसको ध्यान बढे - पिता का।
रो रो, हो हो विकल अपने वार जो है विताते।
हा! वे सीधे सरल - शिशु हैं क्या नही याद आते ॥३३॥

कैसे भूली सरस-खनि सी प्रीति की गोपिकायें।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोपग्वाले।
शान्ता धीरा मधुरहृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा-राधिका मोहमग्ना ॥३४॥

कैसे वृन्दा-विपिन विसरा क्यो लता-वेलि भूली।
कैसे जी से उतर ब्रज की कुञ्ज-पुंजे गई है।
कैसे फूले विपुल-फल से नम्र भूजात भूले।
कैसे भूला विकच-तरु सो अर्कजा-कूल वाला ॥३५॥

सोती सोती चिहुँक कर जो श्याम को है बुलाती।
ऊधो मेरी यह सदन की शारिका कान्त-कण्ठा।
पाला पोसा प्रति-दिन जिसे श्याम ने प्यार से है।
हा ! कैसे सो हृदय-तल से दूर यो हो गई है ॥३६॥

जा कुंजो मे प्रति-दिन जिन्हे चाव से था चराया।
जो प्यारी थीं ब्रज-अवनि के लाडिले को सदा ही।
खिन्ना, दीना, विकल वन मे आज जो घूमती है।
ऊधो कैसे हृदय-धन को हाय ! वे धेनु भूली ॥३७॥

ऐसा प्राय. अब तक मुझे नित्य ही है जनाता।
गो गोपो के सहित वन से सद्म है श्याम आता।
यो ही आ के हृदय तल को वेधता मोह लेता।
मीठा-वंशी-सरस-रव है कान में गूँज जाता ॥३८॥

रोते-रोते तनिक लग जो आँख जाती कभी है।
हा ! त्योही मैं दृग-युगल को चौक के खोलती हूँ।
प्राय. ऐसा प्रति-रजनि मे ध्यान होता मुझे है।
जैसे आ के सुअन मुझको प्यार से है जगाता ॥३९॥

ऐसा ऊधो प्रति-दिन कई बार है ज्ञात होता।
कोई यों है कथन करता लाल आया तुम्हारा।
भ्रान्ता सी मैं अब तक गई द्वार पै बार लाखों।
हा! आँखों से न वह बिछुड़ी-श्यामली-मूर्त्ति देखी ॥४०॥

फूले-अंभोज सम दृग से मोहते मानसों को।
प्यारे-प्यारे वचन कहते खेलते मोद देते।
ऊधो ऐसी अनुमिति सदा हाय! होती मुझे है।
जैसे आता निकल अब ही लाल है मंदिरों से ॥४१॥

आ के मेरे निकट नवनी लालची लाल मेरा।
लीलायें था विविध करता धूम भी था मचाता।
ऊधो बातें न यक पल भी हाय! वे भूलती हैं।
हा! छा जाता दृग-युगल में आज भी सो समाँ है ॥४२॥

मैं हाथों से कुटिल-अलकें लाल की थी बनाती।
पुष्पों को थी श्रुति-युगल के कुण्डलों में सजाती।
मुक्ताओं को शिर मुकुट में मुग्ध हो थी लगाती।
पीछे शोभा निरख मुख की थी न फूले समाती ॥४३॥

मैं प्रायः ले कुसुमकलिका चाव से थी बनाती।
शोभा-वाले-विविध गजरे क्रीट औ कुण्डलों को।
पीछे हो हो सुखित उनको श्याम को थी पिन्हाती।
औ उत्फुल्ला ग्रथित-कलिका तुल्य थी पूर्ण होती ॥४४॥

पैन्हे प्यारे-वसन कितने दिव्य-आभूषणों को।
प्यारी-वाणी विहँस कहते पूर्ण-उत्फुल्ल होते।
शोभा-शाली-सुअन जब था खेलता मन्दिरों में।
तो पा जाती अमरपुर की सर्व सम्पत्ति मैं थी ॥४५॥

होता राका - शशि उदय था फूलता पद्म भी था।
प्यारी - धारा उमग वहती चारु - पीयूष की थी।
मेरा प्यारा तनय जब था, गेह मे नित्य ही तो।
वंशी - द्वारा मधुर - तर था स्वर्ग - संगीत होता ॥४६॥

ऊधो मेरे दिवस अब वे हाय! क्या हो गये है।
हा! यो मेरे सुख - सदन को कौन क्यो है गिराता।
वैसे प्यारे - दिवस अब मै क्या नही पा सकूँगी।
हा! क्या मेरी न अब दुख की यामिनी दूर होगी ॥४७॥

ऊधो मेरा हृदय - तल था एक उद्यान - न्यारा।
शोभा देती अमित उसमे कल्पना - क्यारियॉ थी।
न्यारे - प्यारे - कुसुम कितने भाव के थे अनेको।
उत्साहो के विपुल - विटपी थे महा मुग्धकारी ॥४८॥

सच्चिन्ता की सरस - लहरी - संकुला - वापिका थी।
नाना चाहे कलित - कलियॉ थी लताये उमंगे।
धीरे धीरे मधुर हिलती वासना - वेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजु - भाषी बड़े थे ॥४९॥

भोला - भाला - मुख सुत - वधू - भाविनी का सलोना।
प्रायः होता प्रकट उसमें फुल्ल - अम्भोज - सा था।
बेटे द्वारा सहज - सुख के लाभ की लालसाये।
हो जाती थी विकच बहुधा माधवी - पुष्पिता सी ॥५०॥

प्यारी - आशा - पवन जब थी डोलती स्निग्ध हो के।
तो होती थी अनुपम - छटा बाग के पादपो की।
हो जाती थीं सकल लतिका - वेलियॉ शोभनीया।
सद्भावो के सुमन बनते थे बड़े सौरभीले ॥५१॥

राका - स्वामी सरस - सुख की दिव्य - न्यारी - कलायें।
धीरे धीरे पतित जब थीं स्निग्धता साथ होतीं।
तो आभा में अतुल - छवि में औ मनोहारिता में।
हो जाता सो अधिकतर था नन्दनोद्यान से भी ॥५२॥

ऐसा प्यारा - रुचिर रस से सिक्त उद्यान मेरा।
मैं होती हूँ व्यथित कहते आज है ध्वंस होता।
सूखे जाते सकल - तरु हैं नष्ट होती लता है।
निष्पुष्पा हो विपुल - मलिना वेलियाँ हो रही हैं ॥५३॥

प्यारे - पौधे कुसुम - कुल के पुष्प ही हैं न लाते।
भूले जाते विहग अपनी बोलियाँ हैं अनूठी।
हा ! जावेगा उजड़ अति ही मंजु - उद्यान मेरा।
जो सींचेगा न घन - तन आ स्नेह - सद्वारि - द्वारा ॥५४॥

ऊधो आदौ तिमिर - मय था भाग्य - आकाश मेरा।
धीरे धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति - शाली।
ज्योतिर्माला - बलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा।
राका श्री ले समुदित हुआ चित्त - उत्फुल्ल - कारी ॥५५॥

आभा - वाले उस गगन में भाग्य दुर्वृत्तता की।
काली काली अब फिर घटा है महा-घोर छाई।
हा ! आँखों से सु - विधु जिससे हो गया दूर मेरा।
ऊधो कैसे यह दुख - मयी मेघ - माला टलेगी ॥५६॥

फूले - नीले- वनज - दल सा गात का रंग - प्यारा।
मीठी - मीठी मलिन मन की मोदिनी मंजु - बातें।
सोंधे - डूबी - अलक यदि है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता ॥५७॥

पीड़ा - कारी - करुण - स्वर से हो महा - उन्मना सी।
हा ! रो रो के स - दुख जब यों शारिका पूछती है।
वंशीवाला हृदय - धन सो श्याम मेरा कहाँ है।
तो है मेरे हृदय - तल मे शूल सा विद्ध होता ॥५८॥

त्यौहारो को अपर कितने पर्व औ उत्सवो को।
मेरा प्यारा - तनय अति ही भव्य देता बना था।
आते हैं वे व्रज - अवनि मे आज भी किन्तु ऊधो।
दे जाते हैं परम दुख औ वेदना हैं बढ़ाते ॥५९॥

कैसा - प्यारा जनम - दिन था धूम कैसी मची थी।
संस्कारो के समय सुत के रंग कैसा जमा था।
मेरे जी मे उदय जब वे दृश्य हैं आज होते।
हो जाती तो प्रबल - दुख से मूर्त्ति मैं हूँ शिला की ॥६०॥

कालिंदी के पुलिन पर की मंजु - वृंदाटवी की।
फूले नीले - तरु निकर की कुंज की आलयों की।
प्यारी - लीला - सकल जब हैं लाल की याद आती।
तो कैसा है हृदय मलता मैं उसे क्यो बताऊँ ॥६१॥

मारा मल्लो - सहित गज को कंस से पातकी को।
मेटी सारी नगर - वर की दानवी - आपदायें।
छाया सच्चा - सुयश जग मे पुण्य की वेलि बोई।
जो प्यारे ने स - पति दुखिया - देवकी को छुड़ाया ॥६२॥

जो होती है सुरत उनके कम्प - कारी दुखो की।
तो आँसू है विपुल बहता आज भी लोचनो से।
ऐसी दग्धा परम - दुखिता जो हुई मोदिता है।
ऊधो तो हूँ परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी ॥६३॥

तो भी पीड़ा - परम इतनी बात से हो रही है।
काढ़े लेती मम - हृदय क्यो स्नेह - शीला सखी है।
हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय ! जो यों कभी हूँ।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाडिला है ॥६४॥

मै रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा ! ऐसी ही व्यथित अब क्यो देवकी को करूँगी।
प्यारे जीवे पुलकित रहें औ बने भी उन्हींके।
धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवे ॥६५॥

नाना यत्नो अपर कितनी युक्तियों से जरा मे।
मैने ऊधो ! सुकृति बल से एक ही पुत्र पाया।
सो जा बैठा अरि - नगर मे हो गया अन्य का है।
मेरी कैसी, अहह कितनी, मर्म्म-वेधी व्यथा है ॥६६॥

पत्रो पुष्पो रहित विटपी विश्व मे हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि - शून्या न होवे।
ऊधो सीपी - सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह ! कोई न खोवे ॥६७॥

अंभोजो से रहित न कभी अंक हो वापिका का।
कैसी ही हो कलित - लतिका पुष्प - हीना न होवे।
जो प्यारा है परम - धन है जीवनाधार जो है।
ऊधो ऐसे रुचिर - विटपी शून्य वाटी न होवे ॥६८॥

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता मे किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न विना दीप के हो किसी का ॥६९॥

उद्विग्ना औ विपुल-विकला क्यो न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू अलग जिसकी ऑख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित - अहि सो जी सकेगा बता दो।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है ॥७०॥

कोई देखे न सब - जग के बीच छाया अँधेरा।
ऊधो कोई न निज - दृग की ज्योति - न्यारी गॅवावे।
रो रो हो हो विकल न सभी वार बीतें किसी के।
पीड़ाये हो सकल न कभी मर्म्म - वेधी व्यथा हो ॥७१॥

ऊधो होता समय पर जो चारु चिन्ता - मणी है।
खो देता है तिमिर उर का जो स्वकीया प्रभा से।
जो जी मे है सुरसरित सी स्निग्ध - धारा बहाता।
वेदा ही है अवनि - तल मे रत्न ऐसा निराला ॥७२॥

ऐसा प्यारा रतन जिसका हो गया है पराया।
सो होवेगी व्यथित कितना सोच जी मे तुम्ही लो।
जो आती हो मुझ पर दया अल्प भी तो हमारे।
सूखे जाते हृदय - तल मे शान्ति - धारा बहा दो ॥७३॥

छाता जाता व्रज - अवनि मे नित्य ही है अँधेरा।
जी मे आशा न अब यह है मैं सुखी हो सकूँगी।
हॉ, इच्छा है तदपि इतनी एकदा और आके।
न्यारा - प्यारा - वदन अपना लाल मेरा दिखा दे ॥७४॥

मैंने बातें यदपि कितनी भूल से की बुरी है।
ऊधो बॉधा सुअन कर है ऑख भी है दिखाई।
मारा भी है कुसुम - कलिका से कभी लाडिले को।
तो भी मैं हूँ निकट सुत के सर्वथा मार्जनीया ॥७५॥

जो चूके हैं विविध मुझसे हो चुकी वे सदा ही।
पीड़ा दे दे मथित चित को प्रायशः हैं सताती।
प्यारे से यो विनय करना वे उन्हे भूल जावे।
मेरे जी को व्यथित न करे क्षोभ आ के मिटावे॥७६॥

खेले आ के दृग युगल के सामने मंजु - बोले।
प्यारी लीला पुनरपि करे गान मीठा सुनावे।
मेरे जी मे अब रह गई एक ही कामना है।
आ के प्यारे कुँवर उजड़ा गेह मेरा बसावें॥७७॥

जो ऑखे है उमग खुलती ढूँढती श्याम को है।
लौ कानो को मुरलिधर की तान ही की लगी है।
आती सी है यह ध्वनि सदा गात - रोमावली से।
मेरा प्यारा सुअन व्रज में एकदा और आवे॥७८॥

मेरी आशा नवल - लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले - पत्ते सकल उसके नीलमो के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदको के।
पन्नो द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डंठियॉ थी॥७९॥

ऐसी आशा - ललित - लतिका हो गई शुष्क - प्राया।
सारी शोभा सु - छवि - जनिता नित्य है नष्ट होती।
जो आवेगा न अब व्रज मे श्याम - सत्कान्ति-शाली।
होगी हो के विरस वह तो सर्वथा छिन्न - मूला॥८०॥

लोहू मेरे दृग-युगल से अश्रु की ठौर आता।
रोये रोये सकल - तन के दग्ध हो छार होते।
आशा न होती यदि मुझको श्याम के लौटने की।
मेरा सूखा - हृदयतल तो सैकड़ो खंड होता॥८१॥

चिंता - रूपी मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी।
मेरी जैसी मृतक बनती हेतु संजीवनी है।
नाना - पीड़ा - मथित - मन के अर्थ है शांति- धारा।
आशा मेरे हृदय - मरु की मंजु - मंदाकिनी है ॥८२॥

ऐसी आशा सफल जिससे हो सके शांति पाऊँ।
ऊधो मेरी सब - दुख - हरी - युक्ति- न्यारी वही है।
प्राणाधारा अवनि - तल में है यही एक आशा।
मैं देखूँगी पुनरपि वही श्यामली मूर्त्ति आँखो ॥८३॥

पीड़ा होती अधिकतर है बोध देते जभी हो।
सदेशो से व्यथित चित है और भी दग्ध होता।
जैसे प्यारा - वदन सुत का देख पाऊँ पुन मैं।
ऊधो हो के सदय मुझको यत्न वे ही बता दो ॥८४॥

प्यारे - ऊधो कब तक तुम्हें वेदनाये सुनाऊँ।
मैं होती हूँ विरत यह हूँ किन्तु तो भी बताती।
जो टूटेगी कुँवर - वर के लौटने की सु - आशा।
तो जावेगा उजड़ ब्रज औ मै न जीती बचूँगी ॥८५॥

सारी बाते श्रवण करके स्वीय - अर्द्धांगिनी की।
धीरे बोले ब्रज - अवनि के नाथ उद्विग्न हो के।
जैसी मेरे हृदय - तल मे वेदना हो रही है।
ऊधो कैसे कथन उसको मैं करूँ क्यो बताऊँ ॥८६॥

छाया भू मे निविड़ - तम था रात्रि थी अर्द्ध बीती।
ऐसे बेले भ्रम - वश गया भानुजा के किनारे।
जैसे पैठा तरल - जल मे स्नान की कामना से।
वैसे ही मै तरणि - तनया - धार के मध्य डूबा ॥८७॥

साथी रोये विपुल - जनता ग्राम से दौड़ आई।
तो भी कोई सदय बन के अर्कजा मे न कूदा।
जो क्रीड़ा मे परम - उमड़ी आपगा पैर जाते।
वे भी सारा - हृदय - बल खो त्याग वीरत्व बैठे ॥८८॥

जो स्नेही थे परम - प्रिय थे प्राण जो वार देते।
वे भी हो के त्रसित विविधा - तर्कना मध्य डूबे।
राजा हो के न असमय मे पा सका मैं सु - साथी।
कैसे ऊधो कु - दिन अवनी - मध्य होते बुरे हैं ॥८९॥

मेरे प्यारे कुँवर - वर ने ज्यो सुनी कष्ट - गाथा।
दौड़े आये तरणि - तनया - मध्य तत्काल कूदे।
यत्नो - द्वारा पुलिन पर ला प्राण मेरा बचाया।
कर्त्तव्यो से चकित करके कूल के मानवो को ॥९०॥

पूजा का था दिवस जनता थी महोत्साह - मग्ना।
ऐसी बेला मम - निकट आ एक मोटे फणी ने।
मेरा दायाँ - चरण पकड़ा मैं कँपा लोग दौड़े।
तो भी कोई न मम-हित की युक्ति सूझी किसी को ॥९१॥

दौड़े आये कुँवर सहसा औ कई - उल्मुको से।
नाना ठौरो वपुष - अहि का कौशलो से जलाया।
ज्योही छोड़ा चरण उसने त्यो उसे मार डाला।
पीछे नाना - जतन करके प्राण मेरा बचाया ॥९२॥

जैसे जैसे कुँवर - वर ने हैं किये कार्य्य - - न्यारे।
वैसे उधो न कर सकते है महा-विक्रमी भी।
जैसी मैंने गहन उनमे बुद्धि - सत्ता विलोकी।
वैसी वृद्धो प्रथित - विबुधो मंत्रदो मे न देखी ॥९३॥

मैं ही होता चकित न रहा देख कार्य्यावली को।
जो प्यारे के चरित लखता, मुग्ध होता वही था।
मै जैसा ही अति-सुखित था लाल पा दिव्य ऐसा।
वैसा ही हूँ दुखित अब मैं काल - कौतूहलो से ।।९४।।

क्यो प्यारे ने सदय बन के डूबने से बचाया।
जो यो गाढ़े - विरह - दुख के सिन्धु मे था डुबोना।
तो यत्नो से उरग - मुख के मध्य से क्यो निकाला।
चिन्ताओ से ग्रसित यदि मै आज यों हो रहा हूँ ।।९५।।

वंशस्थ छन्द

निशान्त देखे नभ स्वेत हो गया।
तथापि पूरी न व्यथा - कथा हुई।
परन्तु फैली अवलोक लालिमा।
स - नन्द, ऊधो उठ सद्म से गये ।।९६।।

द्रुतविलम्बित छन्द

विवुध ऊधव के गृह - त्याग से।
परि - समाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अंकित सी रही।
हृदय - मंदिर मे हरि - मित्र के ।।९७।।

एकादश सर्ग

मालिनी छन्द

यक दिन छवि-शाली अर्कजा-कूल-वाली।
नव-तरु-चय-शोभी-कुंज के मध्य बैठे।
कतिपय ब्रज भू के भावुको को विलोक।
बहु-पुलकित ऊधो भी वहीं जा विराजे॥१॥

प्रथम सकल-गोपो ने उन्हें भक्ति-द्वारा।
स-विधि शिर नवाया प्रेम के साथ पूजा।
भर भर निज-आँखो मे कई बार आँसू।
फिर कह मृदु-बाते श्याम-सन्देश पूछा॥२॥

परम-सरसता से स्नेह से स्निग्धता से।
तब जन-सुख-दानी का सु-सम्वाद प्यारा।
प्रवचन-पटु ऊधो ने सबो को सुनाया।
कह कह हित बाते शान्ति दे दे प्रबोधा॥३॥

सुन कर निज-प्यारे का समाचार सारा।
अतिशय-सुख पाया गोप की, मंडली ने।
पर प्रिय-सुधि आये प्रेम-प्राबल्य द्वारा।
कुछ समय रही सो मौन हो उन्मना सी॥४॥

फिर वह मृदुता से स्नेह से धीरता से।
उन स-हृदय गोपो मे वड़ा-वृद्ध जो था।
वह ब्रज-धन प्यारे-वंधु को मुग्ध-सा हो।
निज सु-ललित वातो को सुनाने लगा यों॥५॥

वंशस्थ छन्द

प्रसून यो ही न मिलिन्द वृन्द को।
विमोहता औ करता प्रलुब्ध है।
वरंच प्यारा उसका सु-गंध ही।
उसे बनाता वहु-प्रीति-पात्र है॥६॥

विचित्र ऐसे गुण हैं ब्रजेन्दु के।
स्वभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
निवद्ध सी है जिनमे नितान्त ही।
ब्रजानुरागीजन की विमुग्धता॥७॥

स्वरूप होता जिसका न भव्य है।
न वाक्य होते जिसके मनोज्ञ हैं।
मिली उसे भी भव-प्रीति सर्वदा।
प्रभूत प्यारे गुण के प्रभाव से॥८॥

अपूर्व जैसा घन-श्याम-रूप है।
तथैव वाणी उनकी रसाल है।
निकेत वे है गुण के, विनीत है।
विशेष होगी उनमे न प्रीति क्यो॥९॥

सरोज है दिव्य-सुगंध से भरा।
नृलोक मे सौरभवान स्वर्ण है।
सु-पुष्प से सज्जित पारिजात है।
मयंक है श्याम विना कलंक का॥१०॥

कलिन्दजा की कमनीय - धार जो।
प्रवाहिता है भवदीय - सामने।
उसे बनाता पहले विषाक्त था।
विनाश - कारी विष - कालिनाग का ॥११॥

जहाँ सुकल्लोलित उक्त धार है।
वहीं बड़ा - विस्तृत एक कुण्ड है।
सदा उसीमें रहता भुजंग था।
भुजंगिनी संग लिये सहस्रशः ॥१२॥

मुहुर्मुहुः सर्प - समूह - श्वास से।
कलिन्दजा का कँपता प्रवाह था।
असंख्य फूत्कार प्रभाव से सदा।
विषाक्त होता सरिता सदम्बु था ॥१३॥

दिखा रहा सम्मुख जो कदम्ब है।
कहीं इसे छोड़ न एक वृक्ष था।
द्वि - कोस पर्यंत द्वि - कूल भानुजा।
हरा भरा था न प्रशंसनीय था ॥१४॥

कभी यहाँ का भ्रम या प्रमाद से।
कदम्बु पीता यदि था विहंग भी।
नितान्त तो व्याकुल औ विपन्न हो।
तुरन्त ही था प्रिय - प्राण त्यागता ॥१५॥

बुरा यहाँ का जल पी, सहस्रशः।
मनुष्य होते प्रति - वर्ष नष्ट थे।
कु - मृत्यु पाते इस ठौर नित्य ही।
अनेकशः गो, मृग, कीट कोटिशः ॥१६॥

रही न जाने किस काल से लगी।
व्रजापगा मे यह व्याधि - दुर्भगा।
किया उसे दूर मुकुन्द देव ने।
विमुक्ति सर्वस्व - कृपा - कटाक्ष से ॥१७॥

बढ़े द्विवानायक की दुरन्तता।
अनेक - ग्वाले सुरभी समूह ले।
महा पिपासातुर एक बार हो।
दिनेशजा वर्जित कूल पै गये ॥१८॥

परन्तु पी के जल ज्यो स - धेनु वे।
कलिन्दजा के उपकूल से बढ़े।
अचेत त्योंही सुरभी समेत हो।
जहाँ तहाँ भूतल - अंक मे गिरे ॥१९॥

कढ़े इसी ओर स्वयं इसी घड़ी।
व्रजांगना - वल्लभ दैव - योग से।
बचा जिन्होने अति - यत्न से लिया।
विनष्ट होते बहु - प्राणि - पुंज को ॥२०॥

दिनेशजा दूषित - वारि - पान से।
विडम्बना थी यह हो गई यतः।
अत इसी काल यथार्थ - रूप से।
व्रजेन्द्र को ज्ञान हुआ फणीन्द्र का ॥२१॥

स्व - जाति की देख अतीव दुर्दशा।
विगर्हणा देख मनुष्य - मात्र की।
विचार के प्राणि - समूह - कष्ट को।
हुए समुत्तेजित वीर - केशरी ॥२२॥

हितैषणा से निज - जन्म - भूमि की।
अपार - आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनी महा बंक गँठी हुई भवें।
नितान्त - विस्फारित नेत्र हो गये ॥२३॥

इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया।
सशंकता त्याग अशंक - चित्त से।
अवश्य निर्वासन ही विधेय है।
भुजंग का भानु - कुमारिकांक से ॥२४॥

अतः करूँगा यह कार्य्य मै स्वयं।
स्व - हस्त मे दुर्लभ प्राण को लिये।
स्व - जाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा विकराल - व्याल से ॥२५॥

सदा करूँगा अपमृत्यु सामना।
स - भीत हूँगा न सुरेन्द्र - वज्र से।
कभी करूँगा अवहेलना न मै।
प्रधान - धर्माङ्ग - परोपकार की ॥२६॥

प्रवाह होते तक शेष - श्वास के।
स - रक्त होते तक एक भी शिरा।
स - शक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित सर्वभूत का ॥२७॥

निदान न्यारे - पण सूत्र मे बँधे।
ब्रजेन्दु आये दिन दूसरे यहीं।
दिनेश - आभा इस काल - भूमि को।
बना रही थी महती - प्रभावती ॥२८॥

मनोज्ञ था काल द्वितीय याम था।
प्रसन्न था व्योम दिशा प्रफुल्ल थी।
उमंगिता थी सित - ज्योति - संकुला।
तरंग - माला - मय - भानु - नन्दिनी ॥२९॥

विलोक सानन्द सु - व्योम मेदिनी।
खिले हुए - पंकज पुष्पिता लता।
अतीव - उल्लासित हो स्व - वेणु ले।
कदम्ब के ऊपर श्याम जा चढ़े ॥३०॥

कँपा सु - शाखा बहु पुष्प को गिरा।
पुनः पड़े कूद प्रसिद्ध कुण्ड मे।
हुआ समुद्भिन्न प्रवाह वारि का।
प्रकम्प - कारी रव व्योम मे उठा ॥३१॥

अपार - कोलाहल ग्राम मे मचा।
विषाद फैला व्रज सद्म - सद्म मे।
व्रजेश हो व्यस्त - समस्त दौड़ते।
खड़े हुए आ कर उक्त कुण्ड पै ॥३२॥

असंख्य-प्राणी व्रज - भूप साथ ही।
स - वेग आये दृग - वारि मोचते।
व्रजांगना साथ लिये सहस्रश.।
विसूरती आ पहुँची व्रजेश्वरी ॥३३॥

द्वि - दंड मे ही जनता - समूह से।
तमारिजा का तट पूर्ण हो गया।
प्रकम्पिता हो बन मेदिनी उठी।
विषादितो के बहु - आर्त - नाद से ॥३४॥

कभी कभी क्रन्दन - घोर - नाद को।
विभेद होती श्रुति - गोचरा रही।
महा-सुरीली - ध्वनि श्याम - वेणु की।
प्रदायिनी शान्ति विषाद - मर्दिनी॥३५॥

व्यतीत यो ही घड़ियाँ कई हुईं।
पुनः स - हिल्लोल हुई पतंगजा।
प्रवाह उद्भेदित अंत मे हुआ।
दिखा महा अद्भुत - दृश्य सामने॥३६॥

कई फनो का अति ही भयावना।
महा - कदाकार अश्वेत - शैल सा।
बड़ा - बली एक फणीश अंक से।
कलिन्दजा के कढ़ता दिखा पड़ा॥३७॥

विभीषणाकार - प्रचण्ड - पन्नगी।
कई बड़े - पन्नग, नाग साथ ही।
विदार के वक्ष विषाक्त - कुण्ड का।
प्रमत्त से थे कढ़ते शनैः शनैः॥३८॥

फणीश शीशोपरि राजती रही।
सु - मूर्ति शोभा - मय श्री मुकुन्द की।
विकीर्णकारी कल - ज्योति - चक्षु थे।
अतीव - उत्फुल्ल मुखारविन्द था॥३९॥

विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा।
कसी हुई थी कटि मे सु - काछनी।
दुकूल से शोभित कान्त कन्ध था।
विलम्बिता थी वन - माल कण्ठ मे॥४०॥

अहीश को नाथ विचित्र - रीति से ।
स्व - हस्त मे थे वर - रज्जु को लिये ।
बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुहु ।
प्रबोधिनी - मुग्धकरी - विमोहिनी ॥४१॥

समस्त - प्यारा - पट सिक्त था हुआ ।
न भीगने से वन - माल थी बची ।
गिरा रही थीं अलके नितान्त ही ।
विचित्रता से वर - बूँद वारि की ॥४२॥

लिये हुए सर्प - समूह श्याम ज्यो ।
कलिन्दजा कम्पित अंक से कढ़े ।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे ।
सभी महा शंकित - भीत हो उठे ॥४३॥

हुए कई मूर्छित घोर - त्रास से ।
कई भगे भूतल मे गिरे कई ।
हुई यशोदा अति ही प्रकम्पिता ।
व्रजेश भी व्यस्त - समस्त हो गये ॥४४॥

विलोक सारी - जनता भयातुरा ।
मुकुन्द ने एक विभिन्न - मार्ग से ।
चढ़ा किनारे पर सर्प - यूथ को ।
उसे बढ़ाया वन - ओर वेग से ॥४५॥

व्रजेन्द्र के अद्भुत - वेणु - नाद से ।
सतर्क - संचालन से सु - युक्ति से ।
हुए वशीभूत समस्त सर्प थे ।
न अल्प होते प्रतिकूल थे कभी ॥४६॥

अगम्य - अत्यन्त समीप शैल के।
जहाँ हुआ कानन था, ब्रजेन्द्र ने।
कुटुम्ब के साथ वहीं अहीश को।
सदर्प दे के यम - यातना तजा ॥४७॥

न नाग काली तब से दिखा पड़ा।
हुई तभी से यमुनाति निर्मला।
समोद लौटे सब लोग सद्म को।
प्रमोद सारे - ब्रज - मध्य छा गया ॥४८॥

अनेक यो है कहते फणीश को।
स - वंश मारा वन मे मुकुन्द ने।
कई मनीषी यह है विचारते।
छिपा पड़ा है वह गर्त्त मे किसी ॥४९॥

सुना गया है यह भी अनेक से।
पवित्र - भूता - ब्रज - भूमि त्याग के।
चला गया है वह और ही कहीं।
जनोपघाती विष - दन्त - हीन हो ॥५०॥

प्रवाद जो हो यह किन्तु सत्य है।
स - गर्व मै हूँ कहता प्रफुल्ल हो।
ब्रजेन्दु से ही ब्रज - व्याधि है टली।
बनी फणी - हीन पतंग - नन्दिनी ॥५१॥

वही महा - धीर असीम - साहसी।
सु - कौशली मानव-रत्न दिव्य-धी।
अभाग्य से है ब्रज से जुदा हुआ।
सदैव होगी न व्यथा - अतीव क्यो ॥५२॥

मुकुन्द का है हित चित्त मे भरा।
पगा हुआ है प्रति - रोम प्रेम मे।
भलाइयाँ है उनकी बड़ी बड़ी।
भला उन्हे क्यो व्रज भूल जायगा ॥५३॥

जहाँ रहे श्याम सदा सुखी रहे।
न भूल जावे निज - तात - मात को।
कभी कभी आ मुख - मंजु को दिखा।
रहे जिलाते व्रज - प्राणि - पुंज को ॥५४॥

द्रुतविलम्बित छन्द

निज मनोहर भाषण वृद्ध ने।
जब समाप्त किया बहु - मुग्ध हो।
अपर एक प्रतिष्ठित - गोप यो।
तब लगा कहने सु-गुणावली ॥५५॥

वंशस्थ छन्द

निदाघ का काल महा - दुरन्त था।
भयावनी थी रवि - रश्मि हो गयी।
तवा समा थी तपती वसुंधरा।
स्फुलिंग - वर्षारत तप्त व्योम था ॥५६॥

प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त मे।
ज्वलन्त था आतप ज्वाल - माल-सा।
पतंग की देख महा - प्रचण्डता।
प्रकम्पिता पादप - पुंज - पंक्ति थी ॥५७॥

रजाक्त आकाश दिगन्त को बना।
असंख्य वृक्षावलि मर्दनोद्यता।
मुहुर्मुहु. उद्धत हो निनादिता।
प्रवाहिता थी पवनाति - भीषणा ॥५८॥

विदग्ध हो के कण - धूलि राशि का।
हुआ तपे लौह कणा समान था।
प्रतप्त - बालू - इव दग्ध - भाड़ की।
भयंकरी थी महि - रेणु हो गई ॥५९॥

असह्य उत्ताप दुरंत था हुआ।
महा समुद्विग्न मनुष्य मात्र था।
शरीरियो की प्रिय - शान्ति - नाशिनी।
निदाघ की थी अति - उग्र - ऊष्मता ॥६०॥

किसी वने - पल्लववान - पेड़ की -
प्रगाढ़ - छाया अथवा सुकुंज में।
अनेक प्राणी करते व्यतीत थे।
स - व्यग्रता ग्रीष्म दुरन्त - काल को ॥६१॥

अचेत सा निद्रित हो स्व - गेह मे।
पड़ा हुआ मानव का समूह था।
न जा रहा था जन एक भी कही।
अपार निस्तब्ध समस्त - ग्राम था ॥६२॥

स्व - शावको साथ स्वकीय - नीड़ में।
अबोल हो के खग - वृंद था पड़ा।
स - भीत मानो वन दीर्घ दाघ से।
नही गिरा भी तजती - स्व-गेह थी ॥६३॥

सु - कुंज मे या वर - वृक्ष के तले।
अशक्त हो थे पशु पंगु से पड़े।
प्रतप्त - भू मे गमनाभिशंकया।
पदांक को थी गति त्याग के भगी ॥६४॥

प्रचंड लू थी अति - तीव्र घाम था।
मुहुर्मुहुः गर्जन था समीर का।
विलुप्त हो सर्व - प्रभाव - अन्य का।
निदाघ का एक अखंड - राज्य था ॥६५॥

अनक गो - पालक वत्स धेनु ले।
बिता रहे थे बहु शान्ति - भाव से।
मुकुन्द ऐसे अ - मनोज्ञ - काल को।
वनस्थिता - एक - विराम कुंज मे ॥६६॥

परंतु प्यारी यह शांति श्याम की।
विनष्ट औ भंग हुई तुरन्त ही।
अचिन्त्य - दूरागत - भूरि - शब्द से।
अजस्र जो था अति घोर हो रहा ॥६७॥

पुन पुन कान लगा लगा सुना।
व्रजेन्द्र ने उत्थित घोर - शब्द को।
अत उन्हे ज्ञात तुरन्त हो गया।
प्रचंड - दावा वन - मध्य है लगी ॥६८॥

गये उसी ओर अनेक - गोप थे।
गवादि ले के कुछ - काल - पूर्व ही।
हुई इसी से निज बंधु - वर्ग की।
अपार चिन्ता व्रज - व्योम - चंद्र को ॥६९॥

अत बिना ध्यान किये प्रचंडता।
निदाघ की पूषण की समीर की।
व्रजेन्द्र दौड़े तज शान्ति - कुंज को।
सु - साहसी गोप समूह संग ले ॥७०॥

निकुंज से बाहर श्याम ज्यों कढ़े।
उन्हे महा पर्वत धूमपुंज का।
दिखा पड़ा दक्षिण ओर सामने।
मलीन जो था करता दिगन्त को ॥७१॥

अभी गये वे कुछ दूर मात्र थे।
लगी दिखाने लपटें भयावनी।
वनस्थली बीच प्रदीप्त वह्नि की।
मुहुर्मुहुः व्योम - दिगन्त - व्यापिनी ॥७२॥

प्रवाहिता उद्धत तीव्र वायु से।
विधूनिता हो लपटे दवाग्नि की।
नितान्त ही थी बनती भयंकरी।
प्रचंड - दावा - प्रलयंकरी - समा ॥७३॥

अनन्त थे पादप दग्ध हो रहे।
असंख्य गाठे फटतीं स - शब्द थीं।
विशेषतः वंश - अपार - वृक्ष की।
बनी महा - शब्दित थी वनस्थली ॥७४॥

अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा।
स - व्यग्रता थे सब ओर दौड़ते।
नितान्त हो भीत सरीसृपादि भी।
बने महा - व्याकुल भाग थे रहे ॥७५॥

समीप जा के बलभद्र - बंधु ने।
वहाँ महा - भीषण - काण्ड जो लखा।
प्रवीर है कौन त्रि - लोक मध्य जो।
स्व - नेत्र से देख उसे न काँपता ॥७६॥

प्रचंडता मे रवि की दवाग्नि की।
दुरन्तता थी अति ही विवर्द्धिता।
प्रतीति होती उसको विलोक के।
विदग्ध होगी ब्रज की वसुंधरा ॥७७॥

पहाड़ से पादप तूल पुंज से।
स-मूल होते पल मध्य भस्म थे।
बड़े-बड़े प्रस्तर खंड वह्नि से।
तुरन्त होते तृण-तुल्य दग्ध थे ॥७८॥

अनेक पक्षी उड़ व्योम-मध्य भी।
न त्राण थे पा सकते शिखाग्नि से।
सहस्रशः थे पशु प्राण त्यागते।
पतंग के तुल्य पलायनेच्छु हो ॥७९॥

जला किसी का पग पूँछ आदि था।
पड़ा किसी का जलता शरीर था।
जले अनेको जलते असंख्य थे।
दिगन्त था आर्त्त-निनाद से भरा ॥८०॥

भयंकरी-प्रज्वलिताग्नि की शिखा।
दिवांधता-कारिणि राशि धूम की।
वनस्थली मे बहु-दूर-व्याप्त थी।
नितान्त घोरा ध्वनि त्रास-वर्द्धिनी ॥८१॥

यहीं विलोका करुणा-निकेत ने।
गवादिके साथ स्व-बन्धु-वर्ग को।
शिखाग्नि द्वारा जिनकी शनैः शनैः।
विनष्ट संज्ञा अधिकांश थी हुई ॥८२॥

निरर्थ चेष्टा करते विलोक के।
उन्हे स्व - रक्षार्थ दवाग्नि - गर्भ से।
दया बड़ी ही ब्रज - देव को हुई।
विशेषतः देख उन्हे अशक्त - सा ॥८३॥

अतः सबो से यह श्याम ने कहा।
स्व - जाति - उद्धार महान - धर्म है।
चलो करें पावक मे प्रवेश औ।
स - धेनु लेवे निज - जाति को बचा ॥८४॥

विपत्ति से रक्षण सर्व - भूत का।
सहाय होना अ - सहाय जीव का।
उबारना संकट से स्व - जाति का।
मनुष्य का सर्व - प्रधान धर्म है ॥८५॥

बिना न त्यागे ममता स्व - प्राण की।
बिना न जोखो ज्वलदग्नि मे पड़े।
न हो सका विश्व - महान - कार्य्य है।
न सिद्ध होता भव - जन्म हेतु है ॥८६॥

बढ़ो करो वीर स्व - जाति का भला।
अपार दोनो विध लाभ है हमे।
किया स्व - कर्तव्य उबार जो लिया।
सु - कीर्ति पाई यदि भस्म हो गये ॥८७॥

शिखाग्नि से वे सब ओर है घिरे।
बचा हुआ एक दुरूह - पंथ है।
परन्तु होगी यदि स्वल्प - देर तो।
अगम्य होगा यह शेष - पंथ भी ॥८८॥

अत न है और विलम्ब मे [illegible]
प्रवृत्त हो शीघ्र स्व - कार्य मे लगो।
स - धेनु के जो न इन्हे बचा सके।
बनी रहेगी अपकीर्ति तो सदा ॥८९॥

व्रजेन्दु ने यद्यपि तीव्र - शब्द मे।
किया समुत्तेजित गोप - वृन्द को।
तथापि साथी उनके स्व - कार्य मे।
न हो सके लग्न यथार्थ - रीति से ॥९०॥

निदाघ के भीषण उग्र - ताप से।
स्व-धैर्य्य थे वे अधिकांश खो चुके।
रहे - सहे साहस को दवाग्नि ने।
किया समुन्मूलन सर्व - भाँति था ॥९१॥

असह्य होती उनको अतीव थी।
कराल - ज्वाला तन - दग्ध - कारिणी।
विपत्ति से संकुल उक्त - पंथ भी।
उन्हे बनाता भय - भीत भूरिशः ॥९२॥

अतः हुए लोग नितान्त भ्रान्त थे।
विलोप होती सुधि थी शनै शनै।
व्रजांगना-वल्लभ के निदेश से।
स - चेष्ट होते भर वे क्षणेक थे ॥९३॥

स्व - साथियो की यह देख दुर्दशा।
प्रचंड - दावानल मे प्रवीर से।
स्वयं धॅसे श्याम दुरन्त - वेग से।
चमत्कृता सी वन - भूमि को बना ॥९४॥

प्रवेश के बाद स - वेग ही कढ़े।
समस्त - गोपालक - धेनु संग वे।
अलौकिक-स्फूर्त्ति दिखा त्रि-लोक को।
वसुंधरा मे कल - कीर्त्ति वेलि बो ॥९५॥

बचा सबों को बलवीर ज्यो कढ़े।
प्रचंड - ज्वाला - मय - पंथ त्यो हुआ।
विलोकते ही यह काण्ड श्याम को।
सभी लगे आदर दे सराहने ॥९६॥

अभागिनी है व्रज की वसुंधरा।
बड़े - अभागे हम गोप लोग है।
हरा गया कौस्तुभ जो व्रजेश का।
छिना करो से व्रज - भूमि रत्न जो ॥९७॥

न वित्त होता धन रत्न डूबता।
असंख्य गो - वंश - स - भूमि छूटता।
समस्त जाता तब भी न शोक था।
सरोज सा आनन जो विलोकता ॥९८॥

अतीव - उत्कण्ठित सर्व - काल हूँ।
विलोकने को यक - बार और भी।
मनोज्ञ - वृन्दावन - व्योम - अंक मे।
उगे हुए आनन - कृष्णचन्द्र को ॥९९॥

द्वादश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

ऊधो को यों स - दुख जब थे गोप बाते सुनाते।
आभीरो का यक - दल नया वॉ उसी-काल आया।
नाना - बाते विलख उसने भी कही खिन्न हो हो।
पीछे प्यारा - सुयश स्वर से श्याम का यो सुनाया ॥ १ ॥

द्रुतविलम्बित छन्द

सरस - सुन्दर - सावन - मास था।
घन रहे नभ मे घिर - घूमते।
विलसती बहुधा जिनमे रही।
छविवती - उड़ती - बक - मालिका ॥ २ ॥

घहरता गिरि - सानु समीप था।
बरसता छिति - छू नव - वारि था।
घन कभी रवि - अंतिम - अंशु ले।
गगन मे रचता बहु - चित्र था ॥ ३ ॥

नव - प्रभा परमोज्वल - लीक सी।
गति - मति कुटिला - फणिनी - समा।
दमकती दुरती घन - अंक मे।
विपुल केलि - कला - खनि दामिनी ॥ ४ ॥

विविध - रूप धरे नभ मे कभी।
विहरता वर - वारिद - व्यूह था।
वह कभी करता रस सेक था।
बन सके जिससे सरसा - रसा ॥ ५ ॥

सलिल - पूरित थी सरसी हुई।
उमड़ते पड़ते सर - वृन्द थे।
कर - सुप्लावित कूल प्रदेश को।
सरित थी स - प्रमोद प्रवाहिता ॥ ६ ॥

वसुमती पर थी अति - शोभिता।
नवल कोमल - श्याम - तृणावली।
नयन - रंजनता मृदु - मूर्त्ति थी।
अनुपमा - तरु - राजि - हरीतिमा ॥ ७ ॥

हिल, लगे मृदु - मन्द - समीर के।
सलिल - विन्दु गिरा सुठि अंक से।
मन रहे किसका न विमोहते।
जल - धुले दल - पादप पुंज के ॥ ८ ॥

विपुल मोर लिये बहु - मोरिनी।
विहरते सुख से स - विनोद थे।
मरकतोपम पुच्छ - प्रभाव से।
मणि - मयी कर कानन कुंज को ॥ ९ ॥

बन प्रमत्त - समान पपीहरा।
पुलक के उठता कह पी कहाँ।
लख वसंत - विमोहक - मंजुता।
उमग कूक रहा पिक - पुंज था ॥ १० ॥

स - रव पावस - भूप - प्रताप जो।
सलिल मे कहते बहु भेक थे।
विपुल - झींगुर तो थल मे उसे।
धुन लगा करते नित गान थे ॥ ११ ॥

सुखद - पावस के प्रति सर्व की।
प्रकट सी करती अति - प्रीति थीं।
वसुमती - अनुराग - स्वरूपिणी।
विलसती - बहु - वीर वहूटियाँ ॥१२॥

परम - म्लान हुई बहु - वेलि को।
निरख के फलिता अति - पुष्पिता।
सकल के उर मे रम सी गई।
सुखद - शासन की उपकारिता ॥१३॥

विविध - आकृति औ फल फूल की।
उपजती अवलोक सु - बूटियाँ।
प्रकट थी महि - मण्डल मे हुई।
प्रियकरी - प्रतिपत्ति - पयोद की ॥१४॥

रस - मयी भव - वस्तु विलोक के।
सरसता लख भूतल - व्यापिनी।
समझ है पड़ता बरसात मे।
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥१५॥

मृतक - प्राय हुई तृण - राजि भी।
सलिल से फिर जीवित हो गई।
फिर सु - जीवन जीवन को मिला।
बुध न जीवन क्यो उसको कहे ॥१६॥

व्रज - धरा यक बार इन्हीं दिनो।
पतित थी दुख - वारिधि मे हुई।
पर उसे अवलम्बन था मिला।
व्रज - विभूषण के भुज - पोत का ॥१७॥

दिवस एक प्रभंजन का हुआ।
अति-प्रकोप, घटा नभ मे घिरी।
बहु-भयावह-गाढ़-मसी-समा।
सकल-लोक प्रकंपित-कारिणी ॥१८॥

अशनि-पात-समान दिगन्त मे।
तब महा-रव था बहु व्यापता।
कर विदारण वायु प्रवाह का।
दमकती नभ मे जब दामिनी ॥१९॥

मथित चालित ताड़ित हो महा।
अति-प्रचंड-प्रभंजन-वेग से।
जलद थे दल के दल आ रहे।
घुमड़ते घिरते ब्रज-घेरते ॥२०॥

तरल-तोयधि-तुंग-तरंग से।
निविड़-नीरद थे घिर घूमते।
प्रबल हो जिनकी बढ़ती रही।
असितता-घनता-रवकारिता ॥२१॥

उपजती उस काल प्रतीति थी।
प्रलय के घन आ ब्रज मे घिरे।
गगन-मण्डल मे अथवा जमे।
सजल कज्जल के गिरि कोटिशः ॥२२॥

पतित थी ब्रज-भू पर हो रही।
प्रति-घटी उर-दारक-दामिनी।
असह थी इतनी गुरु-गर्जना।
सह न था सकता पवि-कर्ण भी ॥२३॥

तिमिर की वह थी प्रभुता बढ़ी।
सब तमोमय था दृग देखता।
चमकता वर - वासर था बना।
असितता-खनि - भाद्र - कुहू - निशा ॥२४॥

प्रथम बूँद पड़ी ध्वनि - बाँध के।
फिर लगा पड़ने जल वेग से।
प्रलय कालिक - सर्व - समाँ दिखा।
बरसता जल मूसल - धार था ॥२५॥

जलद - नाद प्रभंजन - गर्जना।
विकट - शब्द महा - जलपात का।
कर प्रकम्पित पीवर - प्राण को।
भर गया व्रज - भूतल मध्य था ॥२६॥

स - बल भग्न हुई गुरु - डालियाँ।
पतित हो करती बहु - शब्द थीं।
पतन हो कर पादप - पुंज को।
क्षण - प्रभा करती शत - खंड थी ॥२७॥

सदन थे सब खंडित हो रहे।
परम - संकट मे जन - प्राण था।
स - बल विज्जु प्रकोप - प्रमाद से।
बहु - विचूर्णित पर्वत - शृंग थे ॥२८॥

दिवस बीत गया रजनी हुई।
फिर हुआ दिन किन्तु न अल्प भी।
कम हुई तम - तोम - प्रगाढ़ता।
न जलपात रुका न हवा थमी ॥२९॥

सब - जलाशय थे जल से भरे।
इस लिये निशि वासर मध्य ही।
जल - मयी ब्रज की वसुधा बनी।
सलिल - मग्न हुए पुर - ग्राम भी ॥३०॥

सर - बने बहु विस्तृत - ताल से।
बन गया सर था लघु - गर्त्त भी।
बहु तरंग - मयी 'गुरु - नादिनी।
जलधि तुल्य बनी रविनन्दिनी ॥३१॥

तदपि था पड़ता जल पूर्व सा।
इस लिये अति - व्याकुलता बड़ी।
विपुल - लोक गये ब्रज - भूप के -
निकट व्यस्त - समस्त अधीर हो ॥३२॥

प्रकृति को कुपिता अवलोक के।
प्रथम से ब्रज - भूपति व्यग्र थे।
विपुल - लोक समागत देख के।
बढ़ गई उनकी वह व्यग्रता ॥३३॥

पर न सोच सके नृप एक भी।
उचित यत्न विपत्ति - विनाश का।
अपर जो उस ठौर बहुज्ञ थे।
न वह भी शुभ - सम्मति दे सके ॥३४॥

तड़ित सी कछनी कटि मे कसे।
सु-विलसे नव - नीरद - कान्ति का।
नवल - बालक एक इसी घड़ी।
जन - समागम - मध्य दिखा पड़ा ॥३५॥

ब्रज - विभूषण को अवलोक के।
जन - समूह प्रफुल्लित हो उठा।
परम - उत्सुकता - वश प्यार से।
फिर लगा वदनांबुज देखने ॥३६॥

सब उपस्थित - प्राणि - समूह को।
निरख के निज-आनन देखता।
बन विशेष विनीत मुकुन्द ने।
यह कहा ब्रज - भूतल - भूप से ॥३७॥

जिस प्रकार घिरे घन व्योम में।
प्रकृति है जितनी कुपिता हुई।
प्रकट है उससे यह हो रहा।
विपद का टलना बहु - दूर है ॥३८॥

इस लिये तज के गिरि - कन्दरा।
अपर यत्न न है अब त्राण का।
उचित है इस काल सयत्न हो।
शरण में चलना गिरि - राज की ॥३९॥

बहुत सी दरियाँ अति - दिव्य हैं।
बृहत कन्दर है उसमें कई।
निकट भी वह है पुर - ग्राम के।
इस लिये गमन - स्थल है वही ॥४०॥

सुन गिरा यह वारिद - गात की।
प्रथम तर्क - वितर्क बढ़ा हुआ।
फिर यही अवधारित हो गया।
गिरि बिना 'अवलम्ब, न अन्य है ॥४१॥

पर विलोक तमिस्र - प्रगाढ़ता।
तड़ित - पात प्रभंजन - भीमता।
सलिल - प्लावन वर्षण - वारि का।
विफल थी बनती सब-मंत्रणा ॥४२॥

इस लिये फिर पंकज - नेत्र ने।
यह स - ओज कहा जन - वृन्द से।
रह अचेष्टित जीवन त्याग से।
मरण है अति - चारु सचेष्ट हो ॥४३॥

विपद - संकुल विश्व - प्रपंच है।
बहु - छिपा भवितव्य रहस्य है।
प्रति - घटी पल है भय प्राण का।
शिथिलता इस हेतु अ-श्रेय है ॥४४॥

विपद से वर - वीर - समान जो।
समर - अर्थ समुद्यत हो सका।
विजय - भूति उसे सब काल ही।
वरण है करती सु - प्रसन्न हो ॥४५॥

पर विपत्ति विलोक स - शंक हो।
शिथिल जो करता पग-हस्त है।
अवनि मे अवमानित शीघ्र हो।
कवल है बनता वह काल का ॥४६॥

कब कहाँ न हुई प्रतिद्वंदिता।
जब उपस्थित संकट - काल हो।
उचित - यत्न स - धैर्य्य विधेय है।
उस घड़ी सब - मानव - मात्र को ॥४७॥

सु - फल जो मिलता इस काल है।
समझना न उसे लघु चाहिये।
बहुत हैं, पड़ संकट - स्रोत में।
सहस में जन जो शत भी बचे ॥४८॥

इस लिये तज निद्य - विमूढ़ता।
उठ पड़ो सब लोग स-यत्न हो।
इस महा - भय - संकुल काल में।
बहु - सहायक जान ब्रजेश को ॥४९॥

सुन स-ओज सु-भाषण श्याम का।
बहु - प्रबोधित हो जन - मण्डली।
गृह गई पढ़ मंत्र - प्रयत्न का।
लग गई गिरि ओर प्रयाण में ॥५०॥

बहु - चुने - दृढ़ - वीर सु - साहसी।
सबल - गोप लिये बलवीर भी।
समुचित स्थल में करने लगे।
सकल की उपयुक्त सहायता ॥५१॥

सलिल प्लावन से अब थे बचे।
लघु - बड़े बहु - उन्नत पंथ जो।
सब उन्हीं पर हो स - सतर्कता।
गमन थे करते गिरि - अंक में ॥५२॥

यदि ब्रजाधिप के प्रिय - लाडिले।
पतित का कर थे गहते कहीं।
उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल - बाहर मग्न को ॥५३॥

पहुँचते बहुधा उस भाग में।
वहु अकिंचन थे रहते जहाँ।
कर सभी सुविधा सब-भाँति की।
वह उन्हे रखते गिरि-अंक मे ॥५४॥

परम-वृद्ध असम्बल लोक को।
दुख-मयी-विधवा रुज-ग्रस्त को।
वन सहायक थे पहुँचा रहे।
गिरि सु-गह्वर में कर यत्न वे ॥५५॥

यदि दिखा पड़ती जनता कहीं।
कु-पथ मे पड़ के दुख भोगती।
पथ-प्रदर्शन थे करते उसे।
तुरत तो उस ठौर व्रजेन्द्र जा ॥५६॥

जटिलता-पथ की तम गाढ़ता।
उदक-पात प्रभंजन भीमता।
मिलित थीं सब साथ, अतः घटी।
दुख-मयी-घटना प्रति-पंथ में ॥५७॥

पर सु-साहस से सु-प्रबंध से।
व्रज-विभूषण के जन एक भी।
तन न त्याग सका जल-मग्न हो।
मर सका गिर के न गिरीन्द्र से ॥५८॥

फलद-सम्बल लोचन के लिये।
क्षणप्रभा अतिरिक्त न अन्य था।
तदपि साधन मे प्रति-कार्य्य के।
सफलता व्रज-वल्लभ को मिली ॥५९॥

परम - सिक्त हुआ वपु - वस्त्र था।
गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र - समीर था।
पर विराम न था व्रज - बन्धु को ॥६०॥

पहुँचते वह थे शर - वेग से।
विपद - संकुल आकुल - ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी।
परम - वीर - समान विपत्ति का ॥६१॥

लख अलौकिक - स्फूर्ति - सु - दक्षता।
चकित - स्तंभित गोप - समूह था।
अधिकतः बँधता यह ध्यान था।
व्रज - विभूषण हैं शतशः बने ॥६२॥

स - धन गोधन को पुर ग्राम को।
जलज - लोचन ने कुछ काल में।
कुशल से गिरि - मध्य बसा दिया।
लघु बना पवनादि - प्रमाद को ॥६३॥

प्रकृति क्रुद्ध छ सात दिनो रही।
कुछ प्रभेद हुआ न प्रकोप में।
पर स - यत्न रहे वह सर्वथा।
तनिक - क्लान्ति हुई न व्रजेन्द्र को ॥६४॥

प्रति - दरी प्रति - पर्वत - कन्दरा।
निवसते जिनमें व्रज - लोग थे।
बहु - सु - रक्षित थी व्रज - देव के।
परम - यत्न सु - चारु प्रबन्ध से ॥६५॥

भ्रमण ही करते सबने उन्हे।
सकल - काल लखा स - प्रसन्नता।
रजनि भी उनकी कटती रही।
स - विधि - रक्षण मे व्रज - लोक के ॥६६॥

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र मे।
व्रज - धराधिप के प्रिय - पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥६७॥

जब व्यतीत हुए दुख - वार ए।
मिट - गया पवनादि प्रकोप भी।
तब बसा फिर से व्रज - प्रान्त, औ।
परम - कीर्ति हुई बलवीर की ॥६८॥

अहह ऊधव सो व्रज - भूमि का।
परम - प्राण - स्वरूप सु - साहसी।
अब हुआ दृग से बहु - दूर है।
फिर कहो बिलपे व्रज क्यो नही ॥६९॥

कथन मे अब शक्ति न शेष है।
विनय हूँ करता बन दीन मै।
व्रज - विभूषण आ निज - नेत्र से।
दुख - दशा निरखे व्रज - भूमि की ॥७०॥

सलिल - प्लावन से जिस भूमि का।
सदय हो कर रक्षण था किया।
अहह आज वही व्रज की धरा।
नयन - नीर - प्रवाह - निमग्न है ॥७१॥

वंशस्थ छन्द

समाप्त ज्योंही इस यूथ ने किया।
अतीव - प्यारे अपने प्रसंग को।
लगा सुनाने उस काल ही उन्हें।
स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यों ॥७२॥

वसन्ततिलका छन्द

बातें बड़ी - मधुर औ अति ही मनोज्ञा।
नाना मनोरम रहस्य - मयी अनूठी।
जो हैं प्रसूत भवदीय मुखाब्ज द्वारा।
हैं वांछनीय वह, सर्व सुखेच्छुकों की ॥७३॥

सौभाग्य है व्यथित - गोकुल के जनों का।
जो पाद - पंकज यहाँ भवदीय आया।
है भाग्य की कुटिलता वचनोपयोगी।
होता यथोचित नहीं यदि कार्य्यकारी ॥७४॥

प्राय. विचार उठता उर - मध्य होगा।
ए क्यों नहीं वचन हैं सुनते हितों के।
है मुख्य - हेतु इसका न कदापि अन्य।
लौ एक श्याम - घन की व्रज को लगी है ॥७५॥

न्यारी - छटा निरखना दृग चाहते हैं।
है कान को सु - यश भी प्रिय श्याम ही का।
गा के सदा सु - गुण है रसना अघाती।
सर्वत्र रोम तक में हरि ही रमा है ॥७६॥

जो हैं प्रवंचित कभी दृग - कर्ण होते।
तो गान हैं सु-गुण को करती रसज्ञा।
हो हो प्रमत्त व्रज - लोग इसी लिये ही।
गा श्याम का सुगुण वासर हैं बिताते ॥७७॥

संसार मे सकल - काल नृ - रत्न ऐसे।
है हो गये अवनि है जिनकी कृतज्ञा।
सारे अपूर्व - गुण है उनके बताते।
सच्चे - नृ - रत्न हरि भी इस काल के है ॥७८॥

जो कार्य्य श्याम - घन ने करके दिखाये।
कोई उन्हे न सकता कर था कभी भी।
वे कार्य्य औ द्विदश - वत्सर की अवस्था।
ऊधो न क्यो फिर नृ - रत्न मुकुन्द होंगे ॥७९॥

बाते बड़ी सरस थे कहते बिहारी।
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार दिखला मिलते सबो से।
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनो मे ॥८०॥

वे थे विनम्र बन के मिलते बड़ों से।
थे बात - चीत करते बहु - शिष्टता से।
बाते विरोधकर थीं उनको न प्यारी।
वे थे न भूल कर भी अप्रसन्न होते ॥८१॥

थे प्रीति - साथ मिलते सब बालको से।
थे खेलते सकल - खेल विनोद - कारी।
नाना - अपूर्व - फल - फूल खिला खिला के।
वे थे विनोदित सदा उनको बनाते ॥८२॥

जो देखते कलह शुष्क - विवाद होता।
तो शान्त श्याम उसको करते सदा थे।
कोई बली नि - बल को यदि था सताता।
तो वे तिरस्कृत किया करते उसे थे ॥८३॥

होते प्रसन्न यदि वे यह देखते थे।
कोई स्व-कृत्य करता अति - प्रीति से है।
यो ही विशिष्ट - पद - गौरव की उपेक्षा।
देती नितान्त उनके चित को व्यथा थी ॥८४॥

माता पिता गुरुजनो वय मे बड़ो को।
होते निरादृत कही यदि देखते थे।
तो खिन्न हो दुखित हो लघु को सुतो को।
शिक्षा समेत बहुधा बहु - शास्ति देते ॥८५॥

थे राज - पुत्र उनमे मद था न तो भी।
वे दीन के सदन थे अधिकांश जाते।
बाते - मनोरम सुना दुख जानते थे।
औ थे विमोचन उसे करते कृपा से ॥८६॥

रोगी दुखी विपद - आपद मे पड़ो की।
सेवा सदैव करते निज - हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज मे न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवे ॥८७॥

संतान - हीन - जन तो ब्रज - बंधु को पा।
संतान - वान निज को कहते रहे ही।
संतान - वान जन भी ब्रज - रत्न ही का।
संतान से अधिक थे रखते भरोसा ॥८८॥

जो थे किसी सदन मे बलवीर जाते।
तो मान वे अधिक पा सकते सुतो से।
थे राज - पुत्र इस हेतु नही, सदा वे।
होते सुपूजित रहे शुभ - कर्म्म द्वारा ॥८९॥

भू मे सदा मनुज है बहु - मान पाता
राज्याधिकार अथवा धन - द्रव्य - द्वारा।
होता परन्तु वह पूजित विश्व मे है।
निस्स्वार्थ भूत - हित औ कर लोक - सेवा ॥९०॥

थोड़ी अभी यदिच है उनकी अवस्था।
तो भी नितान्त - रत वे शुभ - कर्म्म मे है।
ऐसा विलोक वर - बोध स्वभाव से ही।
होता सु - सिद्ध यह है वह है महात्मा ॥९१॥

विद्या सु - संगति समस्त-सु - नीति शिक्षा।
ये तो विकास भर की अधिकारिणी है।
अच्छा - बुरा मलिन - दिव्य स्वभाव भू मे।
पाता निसर्ग कर से नर सर्वदा है ॥९२॥

ऐसे सु - बोध मतिमान कृपालु ज्ञानी।
जो आज भी न मथुरा - तज गेह आये।
तो वे न भूल ब्रज - भूतल को गये है।
है अन्य - हेतु इसका अति - गूढ़ कोई ॥९३॥

पूरी नही कर सके उचिताभिलाषा।
नाना महान जन भी इस मेदिनी मे।
हो के निरस्त बहुधा नृप - नीतियो से।
लोकोपकार - व्रत मे अवलोक बाधा ॥९४॥

जी मे यही समझ सोच - विमूढ़ - सा हो।
मै क्या कहूँ न यह है मुझको जनाता।
हॉ, एक ही विनय हूँ करता स - आशा।
कोई सु - युक्ति ब्रज के हित की करे वे ॥९५॥

है रोम-रोम कहता घनश्याम आवे।
आ के मनोहर-प्रभा मुख की दिखावे।
डाले प्रकाश उर के तम को भगावे।
ज्योतिर्विहीन- दृग की द्युति को बढ़ावे ॥९६॥

तो भी सदैव चित से यह चाहता हूँ।
है रोम - कूप तक से यह नाद होता।
संभावना यदि किसी कु - प्रपच की हो।
तो श्याम-मूर्ति ब्रज मे न कदापि आवे ॥९७॥

कैसे भला स्व-हित की कर चिन्तनाये।
कोई मुकुन्द - हित - ओर न दृष्टि देगा।
कैसे अश्रेय उसका प्रिय हो सकेगा।
जो प्राण से अधिक है ब्रज-प्राणियो का ॥९८॥

यो सर्व-वृत्त कहके बहु - उन्मना हो।
आभीर ने वदन ऊधव का विलोका।
उद्विग्नता सु-दृढ़ता अ-विमुक्त-वांछा।
होती प्रसूत उसकी खर - दृष्टि से थी ॥९९॥

ऊधो विलोक करके उसकी अवस्था।
औ देख गोपगण को बहु - खिन्न होता।
बोले गिरा मधुर शान्ति - करी विचारी।
होवे प्रबोध जिससे दुख-दग्धितो का ॥१००॥

द्रुतविलम्बित छन्द

तदुपरान्त गये गृह को सभी।
ब्रज - विभूषण - कीर्त्ति बखानते।
विबुध - पुगव ऊधव को, बना।
विपुल - बार विमोहित पंथ मे ॥१०१॥

त्रयोदश सर्ग

वंशस्थ छन्द

विशाल - वृन्दावन भव्य - अंक मे।
रही धरा एक अतीव - उर्वरा।
नितान्त - रम्या तृण - राजि - संकुला।
प्रसादिनी प्राणि - समूह दृष्टि की ॥ १ ॥

कहीं कहीं थे विकसे प्रसून भी।
उसे बनाते रमणीय जो रहे।
हरीतिमा मे तृण - राजि - मंजु की।
बड़ी छटा थी सित - रक्त - पुष्प की ॥ २ ॥

विलोक शोभा उसकी समुत्तमा।
समोद होती यह कान्त - कल्पना।
सजा - बिछौना हरिताभ है बिछा।
वनस्थली बीच विचित्र - वस्त्र का ॥ ३ ॥

स - चारुता हो कर भूरि - रंजिता।
सु - श्वेतता रक्तिमता - विभूति से।
विराजती है अथवा हरीतिमा।
स्वकीय - वैचित्र्य विकाश के लिये ॥ ४ ॥

विलोकनीया इस मंजु - भूमि मे।
जहाँ तहाँ पादप थे हरे - भरे।
अपूर्व-छाया जिनके सु - पत्र की।
हरीतिमा को करती प्रगाढ़ थी ॥ ५ ॥

कहीं कहीं था विमलाम्बु भी भरा।
सुधा समासादित संत - चित्त सा।
विचित्र - क्रीड़ा जिसके सु-अंक मे।
अनेक - पत्ती करते स - मत्स्य थे ॥ ६ ॥

इसी धरा मे बहु - वत्स वृन्द ले।
अनेक - गाये चरती समोद थी।
अनेक बैठी वट - वृत्त के तले।
शनैः शनैः थी करती जुगालियाँ ॥ ७ ॥

स - गर्व गंभीर - निनाद को सुना।
जहाँ तहाँ थे वृष मत्त घूमते।
विमोहिता धेनु - समूह को बना।
स्व - गात की पीवरता - प्रभाव से ॥ ८ ॥

बड़े - सधे - गोप - कुमार सैकड़ो।
गवादि के रत्तण मे प्रवृत्त थे।
बजा रहे थे कितने विषाण को।
अनेक गाते गुण थे मुकुन्द का ॥ ९ ॥

कई अनूठे - फल तोड़ तोड़ खा।
विनोदिता थे रसना बना रहे।
कई किसी सुन्दर - वृत्त के तले।
स - बन्धु बैठे करते प्रमोद थे ॥१०॥

इसी घड़ी कानन - कुंज देखते।
वहाँ पधारे बलवीर - बन्धु भी।
विलोक आता उनको सुखी बनी।
प्रफुल्लिता गोपकुमार - मण्डली ॥११॥

बिठा बड़े - आदर - भाव से उन्हे।
सभी लगे माधव - वृत्त पूछने।
बड़े - सुधी ऊधव भी प्रसन्न हो।
लगे सुनाने व्रज - देव की कथा ॥१२॥

मुकुन्द की लोक - ललाम - कीर्ति को।
सुना सबो ने पहले विमुग्ध हो।
पुनः बड़े व्याकुल एक ग्वाल ने।
व्यथा बढ़े यों हरि - बंधु से कहा ॥१३॥

मुकुन्द चाहे वसुदेव - पुत्र हो।
कुमार होवे अथवा व्रजेश के।
बिके उन्हींके कर सर्व - गोप है।
बसे हुए है मन प्राण में वही ॥१४॥

अहो यही है व्रज - भूमि जानती।
व्रजेश्वरी है जननी मुकुन्द की।
परन्तु तो भी व्रज - प्राण है वही।
यथार्थ माँ है यदि देवकांगजा ॥१५॥

मुकुन्द चाहे यदु - वंश के बने।
सदा रहे या वह गोप - वंश के।
न तो सकेंगे व्रज - भूमि भूल वे।
न भूल देगी व्रज - मेदिनी उन्हे ॥१६॥

वरंच न्यारी उनकी गुणावली।
बता रही है यह, तत्त्व तुल्य ही।
न एक का किन्तु मनुष्य - मात्र का।
समान है स्वत्व मुकुन्द - देव मे ॥१७॥

अपूर्व - आदर्श दिखा नरत्व का।
प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित की समुच्चता।
बना दिया मानव गोप - वृन्द को ॥२४॥

मुकुन्द थे पुत्र ब्रजेश - नन्द के।
गऊ चराना उनका न कार्य था।
रहे जहाँ सेवक सैकड़ो वहाँ।
उन्हे भला कानन कौन भेजता ॥२५॥

परन्तु आते वन मे स - मोद वे।
अनन्त - ज्ञानार्जन के लिये स्वयं।
तथा उन्हे वांछित थी नितान्त ही।
वनान्त मे हिंसक - जन्तु - हीनता ॥२६॥

मुकुन्द आते जब थे अरण्य मे।
प्रफुल्ल हो तो करते विहार थे।
विलोकते थे सु - विलास वारि का।
कलिन्दजा के कल कूल पै खड़े ॥२७॥

स - मोद बैठे गिरि - सानु पै कभी।
अनेक थे सुन्दर - दृश्य देखते।
बने महा - उत्सुक वे कभी छटा।
विलोकते निर्झर - नीर की रहे ॥२८॥

सु - वीथिका मे कल - कुंज - पुंज में।
शनैः शनैः वे स - विनोद घूमते।
विमुग्ध हो हो कर थे विलोकते।
लता - सपुष्पा मृदु - मन्द - दोलिता ॥२९॥

पतंगजा - सुन्दर स्वच्छ - वारि में।
स - बन्धु थे मोहन तैरते कभी।
कदम्ब - शाखा पर बैठ मत्त हो।
कभी बजाते निज - मंजु - वेणु वे ॥३०॥

वनस्थली उर्वर - अंक उद्भवा।
अनेक बूटी उपयोगिनी - जड़ी।
रही परिज्ञात मुकुन्द देव को।
स्वकीय - संधान - करी सु - बुद्धि से ॥३१॥

वनस्थली में यदि थे विलोकते।
किसी परीक्षा - रत - धीर - व्यक्ति को।
सु - बूटियों का उससे मुकुंद तो।
स - मर्म्म थे सर्व - रहस्य जानते ॥३२॥

नवीन - दूर्वा फल - फूल - मूल क्या।
वरंच वे लौकिक तुच्छ - वस्तु को।
विलोकते थे खर - दृष्टि से सदा।
स्व-ज्ञान-मात्रा-अभिवृद्धि के लिये ॥३३॥

तृणाति साधारण को उन्हें कभी।
विलोकते देख निविष्ट चित्त से।
विरक्त होती यदि ग्वाल - मण्डली।
उसे बताते यह तो मुकुन्द थे ॥३४॥

रहस्य से शून्य न एक पत्र है।
न विश्व में व्यर्थ बना तृणेक है।
करो न संकीर्ण विचार - दृष्टि को।
न धूलि की भी कणिका निरर्थ है ॥३५॥

वनस्थली मे यदि थे विलोकते।
कहीं बड़ा भीषण - दुष्ट - जन्तु तो।
उसे मिले घात मुकुन्द मारते।
स्व - वीर्य से साहस से सु - युक्ति से ॥३६॥

यही बड़ा - भीषण एक व्याल था।
स्वरूप जो था विकराल - काल का।
विशाल काले उसके शरीर की।
करालता थी मति - लोप - कारिणी ॥३७॥

कभी फणी जो पथ - मध्य वक्र हो।
कँपा स्व - काया चलता स - वेग तो।
वनस्थली में उस काल त्रास का।
प्रकाश पाता अति - उग्र - रूप था ॥३८॥

समेट के स्वीय विशालकाय को।
फणा उठा, था जब व्याल बैठता।
विलोचनो को उस काल दूर से।
प्रतीत होता वह स्तूप - तुल्य था ॥३९॥

विलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहुः।
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो।
निपात होता तब भूत - प्राण था।
विभीषिका - गर्त्त नितान्त गूढ़ मे ॥४०॥

प्रलम्ब आतंक - प्रसू, उपद्रवी।
अतीव मोटा यम - दीर्घ - दण्ड सा।
कराल आरक्तिम - नेत्रवान औ।
विषाक्त - फूत्कार - निकेत सर्प था ॥४१॥

विलोकते ही उसको वराह की।
विलोप होती वर-वीरता रही।
अधीर हो के बनता अ-शक्त था।
बड़ा-बली वज्र-शरीर केशरी ॥४२॥

असह्य होती तरु-वृन्द को सदा।
विपाक्त-साँसे दल दग्ध-कारिणी।
विचूर्ण होती बहुशः शिला रही।
कठोर-उद्बन्धन-सर्प-गात्र से ॥४३॥

अनेक कीड़े खग औ मृगादि भी।
विदग्ध होते नित थे पतंग से।
भयंकरी प्राणि-समूह-ध्वंसिनी।
महादुरात्मा अहि-कोप-वह्नि थी ॥४४॥

अगम्य कान्तार गिरीन्द्र खोह में।
निवास प्राय. करता भुजंग था।
परन्तु आता वह था कभी कभी।
यहाँ बुभुक्षा-वश उग्र-वेग से ॥४५॥

विराजता सम्मुख जो सु-वृक्ष है।
बड़े-अनूठे जिसके प्रसून है।
प्रफुल्ल बैठे दिवसेक श्याम थे।
तले इसी पादप के स-मण्डली ॥४६॥

दिनेश ऊँचा वर-व्योम मध्य हो।
वनस्थली को करता प्रदीप्त था।
इतस्ततः थे वहु गोप घूमते।
असंख्य-गाये चरती समोद थीं ॥४७॥

विनष्ट होते शतशः शशादि थे।
सु-पुष्ट मोटे खुम के प्रहार से।
हुए पदाघात बलिष्ट-अश्व का।
विदीर्ण होता वपु वारणादि का ॥६०॥

बड़ा-बली उन्नत-काय-बैल भी।
विलोक होता उसको विपन्न सा।
नितान्त-उत्पीड़न-दंशनादि से।
न त्राण पाता सुरभी-समूह था ॥६१॥

पराक्रमी वीर बलिष्ट-गोप भी।
न सामना थे करते तुरंग का।
बरंच वे थे बनते विमूढ़ से।
उसे कहीं देख भयाभिभूत हो ॥६२॥

समुच्च-शाखा पर वृक्ष की किसी।
तुरन्त जाते चढ़ थे स-व्यग्रता।
सुने कठोरा-ध्वनि अश्व-टाप की।
समस्त-आभीर अतीव-भीत हो ॥६३॥

मनुष्य आ सम्मुख स्वीय-प्राण को।
बचा नहीं था सकता प्रयत्न से।
दुरन्तता थी उसकी भयावनी।
विमूढ़कारी रव था तुरंग का ॥६४॥

मुकुन्द ने एक विशाल-दण्ड ले।
स-दर्प घेरा यक बार वाजि को।
अनन्तराघात अजस्र से उसे।
प्रदान की वांछित प्राण-हीनता ॥६५॥

विलोक ऐसी बलवीर - वीरता।
अशंकता साहस कार्य्य - दक्षता।
समस्त - आभीर विमुग्ध हो गये।
चमत्कृता हो जन - मण्डली उठी ॥६६॥

वनस्थली कण्टक रूप अन्य भी।
कई बड़े - क्रूर बलिष्ठ - जन्तु थे।
हटा उन्हें भी निज कौशलादि से।
किया उन्होंने उसको अकण्टका ॥६७॥

बड़ा - बली - बालिश व्योम नाम का।
वनस्थली में पशु - पाल एक था।
अपार होता उसको विनोद था।
बना महा - पीड़ित प्राणि - पुंज को ॥६८॥

प्रवंचना से उसकी प्रवंचिता।
विशेष होती ब्रज की वसुंधरा।
अनेक - उत्पात पवित्र - भूमि में।
सदा मचाता यह दुष्ट - व्यक्ति था ॥६९॥

कभी चुराता वृष - वत्स - धेनु था।
कभी उन्हें था जल - बीच बोरता।
प्रहार - द्वारा गुरु - यष्टि के कभी।
उन्हें बनाता वह अंग - हीन था ॥७०॥

दुरात्मता थी उसकी भयंकरी।
न खेद होता उसको कदापि था।
निरीह गो - वत्स - समूह को जला।
वृथा लगा पावक कुंज - पुंज में ॥७१॥

अबोध - सीधे बहु - गोप - बाल को।
अनेक देता वन - मध्य कष्ट था।
कभी कभी था वह डालता उन्हें।
डरावनी मेरु - गुहा समूह मे ॥७२॥

विदार देता शिर था प्रहार से।
कँपा कलेजा दृग फोड़ डालता।
कभी दिखा दानव सी दुरन्तता।
निकाल लेता बहु - मूल्य - प्राण था ॥७३॥

प्रयत्न नाना व्रज - देव ने किये।
सुधार चेष्टा हित - दृष्टि साथ की।
परन्तु छूटी उसकी न दुष्टता।
न दूर कोई कु - प्रवृत्ति हो सकी ॥७४॥

विशुद्ध होती, सु - प्रयत्न से नहीं।
प्रभूत - शिक्षा उपदेश आदि से।
प्रभाव - द्वारा बहु - पूर्व पाप के।
मनुष्य - आत्मा स - विशेष दूषिता ॥७५॥

निपीड़िता देख स्व - जन्मभूमि को।
अतीव उत्पीड़न से खलेन्द्र के।
समीप आता लख एकदा उसे।
स - क्रोध बोले बलभद्र - बंधु यो ॥७६॥

सुधार - चेष्टा बहु - व्यर्थ हो गई।
न त्याग तू ने कु - प्रवृत्ति को किया।
अतः यही है अब युक्ति उत्तमा।
तुझे वधूँ मैं भव - श्रेय - दृष्टि से ॥७७॥

अवश्य हिंसा अति - निंद्य - कर्म है।
तथापि कर्त्तव्य - प्रधान है यही।
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से।
वसुंधरा में पनपे न पातकी ॥७८॥

मनुष्य क्या एक पिपीलिका कभी।
न वध्य है जो न अश्रेय हेतु हो।
न पाप है किंच पुनीत - कार्य्य है।
पिशाच - कर्म्मी - नर की वध - क्रिया ॥७९॥

समाज - उत्पीड़क धर्म्म - विप्लवी।
स्व - जाति का शत्रु दुरन्त - पातकी।
मनुष्य - द्रोही भव - प्राणि - पुंज का।
न है क्षमा - योग्य वरंच वध्य है ॥८०॥

क्षमा नहीं है खल के लिये भली।
समाज - उत्सादक दण्ड योग्य है।
कु - कर्म - कारी नर का उबारना।
सु - कर्मियो को करता विपन्न है ॥८१॥

अतः अरे पामर सावधान हो।
समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू।
सम्हाल तेरा वध वांछनीय है ॥८२॥

स - दर्प बातें सुन श्याम - मूर्त्ति की।
हुआ महा क्रोधित व्योम विक्रमी।
उठा स्वकीया - गुरु - दीर्घ यष्टि को।
तुरन्त मारा उसने व्रजेन्द्र को ॥८३॥

अपूर्व - आस्फालन साथ श्याम ने।
अतीव - लांबी वह यष्टि छीन ली।
पुनः उसीके प्रबल - प्रहार से।
निपात उत्पात - निकेत का किया ॥८४॥

गुणावली है गरिमा विभूषिता।
गरीयसी गौरव - मूर्त्ति - कीर्त्ति है।
उसे सदा संयत - भाव साथ गा।
अतीव होती चित - बीच शान्ति है ॥८५॥

वनस्थली मे पुर मध्य ग्राम मे।
अनेक ऐसे थल है सुहावने।
अपूर्व - लीला व्रज - देव ने जहाँ।
स - मोद की है मन मुग्धकारिणी ॥८६॥

उन्हीं थलो को जनता शनैः शनैः।
बना रही है व्रज - सिद्ध पीठ सा।
उन्हीं थलो की रज श्याम - मूर्त्ति के।
वियोग मे है बहु - बोध - दायिनी ॥८७॥

अपार होगा उपकार लाडिले।
यहाँ पधारे यक बार और जो।
प्रफुल्ल होगी व्रज - गोप - मण्डली।
विलोक आँखो वदनारविन्द को ॥८८॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

श्रीदामा जो अति - प्रिय सखा श्यामली मूर्त्ति का था।
मेधावी जो सकल - व्रज के बालको मे बड़ा था।
पूरा ज्योंही कथन उसका हो गया मुग्ध सा हो।
बोला त्योंही मधुर - स्वर से दूसरा एक ग्वाला ॥८९॥

मालिनी छन्द

विपुल - ललित लीला - धाम आमोद - प्याले।
सकल - कलित - क्रीड़ा कौशलो मे निराले।
अनुपम - वनमाला को गले वीच डाले।
कव उमग मिलेंगे लोक - लावण्य - वाले ॥९०

कव कुसुमित - कुंजो मे वजेगी वता दो।
वह मधु - मय - प्यारी - बॉसुरी लाडिले की।
कव कल - यमुना के कूल वृन्दाटवी मे।
चित - पुलकितकारी चारु आलाप होगा ॥९१॥

कव प्रिय विहरेंगे आ पुन: काननो मे।
कव वह फिर खेलेंगे चुने - खेल - नाना।
विविध - रस - निमग्ना भाव सौन्दर्य्य - सिक्ता।
कव वर - मुख - मुद्रा लोचनो मे लसेगी ॥९२

यदि व्रज - धन छोटा खेल भी खेलते थे।
क्षण भर न गॅवाते चित्त - एकाग्रता थे।
वहु चकित सदा थी वालको को वनाती।
अनुपम - मृदुता मे छिप्रता की कलाये ॥९३॥

चकितकर अनूठी - शक्तियॉ श्याम मे हैं।
वर सव - विपयों मे जो उन्हें है वनाती।
अति - कठिन - कला मे केलि - क्रीड़ादि मे भी।
वह मुकुट सवो के थे मनोनीत होते ॥९४

सवल कुशल क्रीड़ावान भी लाडिले को।
निज छल वल - द्वारा था नहीं जीत पाता।
वहु अवसर ऐसे ऑख से है विलोके।
जव कुॅवर अकेले जीतते थे शतो को ॥९५॥

तदपि चित बना है श्याम का चारु ऐसा।
वह निज-सुहृदो से थे स्वयं हार खाते।
वह कतिपय जीते-खेल को थे जिताते।
सफलित करने को बालको की उमंगें ॥९६॥

वह अतिशय-भूखा देख के बालकों को।
तरु पर चढ़ जाते थे बड़ी-शीघ्रता से।
निज-कमल-करो से तोड़ मीठे-फलो को।
वह स-मुद खिलाते थे उन्हे यत्न-द्वारा ॥९७॥

सरस-फल अनूठे-व्यंजनो को यशोदा।
प्रति-दिन वन मे थी भेजती सेवको से।
कह कह मृदु-बाते प्यार से पास बैठे।
व्रज-रमण खिलाते थे उन्हे गोपजो को ॥९८॥

नव किशलय किम्वा पीन-प्यारे-दलो से।
वह ललित-खिलौने थे अनेको बनाते।
वितरण कर पीछे भूरि-सम्मान द्वारा।
वह मुदित बनाते ग्वाल की मंडली को ॥९९॥

अभिनव-कलिका से पुष्प से पंकजो से।
रच अनुपम-माला भव्य-आभूषणो को।
वह निज-कर से थे बालको को पिन्हाते।
बहु-सुखित बनाते यो सखा-वृन्द को थे ॥१००॥

वह विविध-कथाये देवता-दानवो की।
अनु दिन कहते थे मिष्टता मंजुता से।
वह हँस-हँस बाते थे अनूठी सुनाते।
सुखकर-तरु-छाया में समासीन हो के ॥१०१॥

व्रज - धन जब क्रीड़ा - काल मे मत्त होते।
तब अभि मुख होती मूर्त्ति - तल्लीनता की।
बहु थल लगती थीं बोलने कोकिलायें।
यदि वह पिक का सा कुंज मे कूकते थे॥१०२॥

यदि वह पपिहा की शारिका या शुकी की।
श्रुति - सुखकर - बोली प्यार से बोलते थे।
कलरव करते तो भूरि - जातीय - पक्षी।
ढिग - तरु पर आ के मत्त हो बैठते थे॥१०३॥

यदि वह चलते थे हंस की चाल प्यारी।
लख अनुपमता तो चित्त था मुग्ध होता।
यदि कलित कलापी - तुल्य वे नाचते थे।
निरुपम पटुता तो मोहती थी मनो को॥१०४॥

यदि वह भरते थे चौकड़ी एण की सी।
मृग - गण समता की तो न थे ताब लाते।
यदि वह वन मे थे गर्जते केशरी सा।
थर - थर कँपता तो मत्त - मातङ्ग भी था॥१०५॥

नवल - फल - दलो औ पुष्प - संभार - द्वारा।
विरचित कर के वे राजसी - वस्तुओ को।
यदि बन कर राजा बैठ जाते कहीं तो।
वह छवि बन आती थी विलोके दृगो मे॥१०६॥

यह अवगत होना है वहाँ बंधु मेरे।
कल कनक बनाये दिव्य - आभूषणो को।
स - मुकुट मन - हारी सर्वदा पैन्हते हैं।
सु - जटित जिनमे है रत्न आलोकशाली॥१०७॥

शिर पर उनके है राजता छत्र-न्यारा।
सु-चमर ढुलते है, पाट है रत्न शोभी।
परिकर-शतशः है वस्त्र औ वेशवाले।
विरचित नभ-चुम्बी सद्म है स्वर्ण-द्वारा ॥१०८॥

इन सब विभवो की न्यूनता थी न यॉ भी।
पर वह अनुरागी पुष्प ही के बड़े थे।
यह हरित-तृणो से शोभिता भूमि रम्या।
प्रिय-तर उनको थी स्वर्ण-पर्यंक से भी ॥१०९॥

यह अनुपम-नीला-व्योम प्यारा उन्हे था।
अतुलित छविवाले चारु-चन्द्रातपो से।
यह कलित निकुंजे थी उन्हे भूरि-प्यारी।
मयहृदय-विमोही-दिव्य-प्रासाद से भी ॥११०॥

समधिक मणि-मोती आदि से चाहते थे।
विकसित-कुसुमो को मोहिनी मूर्त्ति मेरे।
सुखकर गिनते थे स्वर्ण-आभूषणो से।
वह सुललित पुष्पो के अलंकार ही को ॥१११॥

अब हृदय हुआ है और मेरे सखा का।
अहह वह नही तो क्यो सभी भूल जाते।
यह नित नव-कुंजे भूमि शोभा-निधाना।
प्रति-दिवस उन्हे तो क्यो नही याद आती ॥११२॥

सुन कर वह प्राय. गोप के बालको से।
दुखमय कितने ही गेह की कष्ट-गाथा।
वन तज उन गेहो मध्य थे शीघ्र जाते।
नियमन करने को सर्ग-संभूत बाधा ॥११३॥

यदि अनशन होता अन्न औ द्रव्य देते।
रुज-ग्रसित दिखाता औषधी तो खिलाते।
यदि कलह वितण्डावाद की वृद्धि होती।
वह मृदु-वचनो से तो उसे भी भगाते ॥११४॥

'बहु नयन, दुखी हो वारि-धारा बहा के।
पथ प्रियवर' का ही आज भी देखते है।
पर सुधि उनकी भी हा! उन्होने नही ली।
वह प्रथित दया का धाम भूला उन्हे क्यो ॥११५॥

पद-रज ब्रज-भू है चाहती उत्सुका हो।
कर परस प्रलोभी वृन्द है पादपो का।
अधिक बढ़ गई है लोक के लोचनो की।
सरसिज मुख-शोभा देखने की पिपासा ॥११६॥

प्रतपित-रवि तीखी-रश्मियो से शिखी हो।
प्रतिपल चित से ज्यो मेघ को चाहता है।
ब्रज-जन बहु तापों से महा तप्त हो के।
वन घन-तन-स्नेही है समुत्कण्ठ त्योही ॥११७॥

नव-जल-धर-धारा ज्यो समुत्सन्न होते।
कतिपय तरु का है जीवनाधार होती।
हितकर दुख-दग्धो का उसी भाँति होगा।
नव-जलद शरीरी श्याम का सद्म आना ॥११८॥

द्रुतविलम्बित छन्द

कथन यो करते ब्रज की व्यथा।
गगन-मण्डल लोहित हो गया।
इस लिये बुध-ऊधव को लिये।
सकल ग्वाल गये निज-गेह को ॥११९॥

चतुर्दश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

कालिन्दी के पुलिन पर थी एक कुंजातिरम्या।
छोटे-छोटे सु-द्रुम उसके मुग्ध-कारी बड़े थे।
ऐसे न्यारे प्रति-विटप के अंक मे शोभिता थी।
लीला-शीला-ललित-लतिका पुष्पाभारावनम्रा ॥ १॥

बैठे ऊधो मुदित-चित से एकदा थे इसीमे।
लीलाकारी सलिल सरि का सामने सोहता था।
धीरे-धीरे तपन-किरणे फैलती थी दिशा मे।
न्यारी-क्रीड़ा उमग करती वायु थी पल्लवो से ॥ २॥

बालाओ का यक दल इसी काल आता दिखाया।
आशाओ को ध्वनित करके मंजु-मंजीरको से।
देखी जाती इस छविमयी मण्डली संग मे थी।
भोली-भाली कतिपय बड़ी-सुन्दरी-बालिकाये ॥ ३॥

नीला-प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा।
बोली हो के विरस-वदना अन्य-गोपांगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
लीला-मग्ना जलद-तन की मूर्त्ति है याद आती ॥ ४॥

श्यामा - बातें श्रवण कर के बालिका एक रोई।
रोते - रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनो।
ज्यो ज्यो लज्जा - विवश वह थी रोकती वारि-धारा।
त्यो त्यो आँसू अधिकतर थे लोचनो मध्य आते ॥ ५ ॥

ऐसा रोता निरख उसको एक मर्म्मज्ञ बोली।
यो रोवेगी भगिनि यदि तू बात कैसे बनेगी।
कैसे तेरे युगल - दृग ए ज्योति - शाली रहेंगे।
तू देखेगी वह छविमयी - श्यामली - मूर्त्ति कैसे ॥ ६ ॥

जो यो ही तू बहु - व्यथित हो दग्ध होती रहेगी।
तेरे सूखे - कृशित - तन मे प्राण कैसे रहेंगे।
जी से प्यारा - मुदित - मुखड़ा जो न तू देख लेगी।
तो वे होंगे सुखित न कभी स्वर्ग मे भी सिधा के ॥ ७ ॥

मर्म्मज्ञा का कथन सुन के कामिनी एक बोली।
तू रोने दे अयि मम सखी खेदिता - बालिका को।
जो बालाये विरह - दव मे दग्धिता हो रही है।
आँखो का ही उदक उनकी शान्ति की औषधी है ॥ ८ ॥

वाष्प - द्वारा बहु - विध - दुखो वर्द्धिता - वेदना के।
बालाओ का हृदय - नभ जो है समाच्छन्न होता।
तो निर्द्धूता तनिक उसकी म्लानता है न होती।
पर्जन्यों सा न यदि बरसे वारि हो, वे दृगो से ॥ ९ ॥

प्यारी - बातें श्रवण जिसने की किसी काल में भी।
न्यारा - प्यारा - वदन जिसने था कभी देख पाया।
वे होती हैं बहु - व्यथित जो श्याम है याद आते।
क्यो रोवेगी न वह, जिसके जिवनाधार वे हैं ॥१०॥

प्यारे - भ्राता - सुत - स्वजन सा श्याम को चाहती है।
जो बालाये व्यथित वह भी आज है उन्मना हो।
प्यारा - न्यारा - निज - हृदय जो श्याम को दे चुकी है।
हा ! क्यो बाला न वह दुख से दग्ध हो रो मरेगी ॥११॥

ज्यो ए बाते व्यथित - चित से गोपिका ने सुनाई।
त्यो सारी ही करुण - स्वर से रो उठी कम्पिता हो।
ऐसा न्यारा - विरह उनका देख उन्माद - कारी।
धीरे ऊधो निकट उनके कुंज को त्याग आये ॥१२॥

ज्यो पाते ही सम - तल धरा वारि - उन्मुक्त - धारा।
पा जाती है प्रमित - थिरता त्याग तेजस्विता को।
त्योही होता प्रबल दुख का वेग विभ्रान्तकारी।
पा ऊधो को प्रशमित हुआ सर्व - गोपी - जनो का ॥१३॥

प्यारी - बाते स - विध कह के मान - सम्मान - सिक्ता।
ऊधो जी को निकट सबने नम्रता से बिठाया।
पूछा मेरे कुँवर अब भी क्यो नहीं गेह आये।
क्या वे भूले कमल - पग की प्रेमिका गोपियो को ॥१४॥

ऊधो बोले समय - गति है गूढ़ - अज्ञात बेड़ी।
क्या होवेगा कब यह नहीं जीव है जान पाता।
आवेगे या न अब ब्रज मे आ सकेगे बिहारी।
हा ! मीमांसा इस दुख - पगे प्रश्न की क्यो करूँ मै ॥१५॥

प्यारा वृन्दा - विपिन उनको आज भी पूर्व - सा है।
वे भूले है न प्रिय - जननी औ न प्यारे - पिता को।
वैसी ही है सुरति करते श्याम गोपांगना की।
वैसी ही है प्रणय - प्रतिमा - बालिका याद आती ॥१६॥

प्यारी - बाते कथन करके बालिका - बालको की।
माता की औ प्रिय - जनक की गोप - गोपांगना की।
मैंने देखा अधिकतर है श्याम को मुग्ध होते।
उच्छ्वासो से व्यथित - उर के नेत्र में वारि लाते ॥१७॥

सायं - प्रातः प्रति - पल - घटी है उन्हे याद आती।
सोते मे भी ब्रज - अवनि का स्वप्न वे देखते हैं।
कुंजों मे ही मन मधुप सा सर्वदा घूमता है।
देखा जाता तन भर वहाँ मोहिनी - मूर्त्ति का है ॥१८॥

हो के भी वे ब्रज - अवनि के चित्त से यो सनेही।
क्यो आते हैं न प्रति - जन का प्रश्न होता यही है।
कोई यो है कथन करता तीन ही कोस आना।
क्यो है मेरे कुँवर - वर को कोटिशः कोस होता ॥१९॥

दोनो आँखे सतत जिनकी दर्शनोत्कण्ठिता हों।
जो वारो को कुँवर - पथ को देखते हैं बिताते।
वे हो - हो के विकल यदि हैं पूछते बात ऐसी।
तो कोई है न अतिशयता औ न आश्चर्य्य ही है ॥२०॥

ऐ संतप्ता - विरह - विधुरा गोपियो किन्तु कोई।
थोड़ा सा भी कुँवर - वर के मर्म का है न ज्ञाता।
वे जी से हैं अवनिजन के प्राणियो के हितैषी।
प्राणो से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा ॥२१॥

स्वार्थों को औ विपुल - सुख को तुच्छ देते बना है।
जो आ जाता जगत - हित है सामने लोचनो के।
हैं योगी सा दमन करते लोक - सेवा निमित्त।
लिप्साओ से भरित उर की सैकड़ो लालसायें ॥२२॥

ऐसे - ऐसे जगत - हित के कार्य्य हैं चक्षु आगे।
हैं सारे ही विषय जिनके सामने श्याम भूले।
सच्चे जी से परम - व्रत के वे व्रती हो चुके हैं।
निष्कामी से अपर - कृति के कूल - वर्ती अतः हैं ॥२३॥

मीमांसा है प्रथम करते स्वीय कर्त्तव्य ही की।
पीछे वे हैं निरत उसमे धीरता साथ होते।
हो के वांछा - विवश अथवा लिप्त हो वासना से।
प्यारे होते न च्युत अपने मुख्य - कर्त्तव्य से है ॥२४॥

घूमूँ जा के कुसुम - वन मे वायु - आनन्द मैं लूँ।
देखूँ प्यारी सुमन - लतिका चित्त यो चाहता है।
रोता कोई व्यथित उनको जो तभी दीख जावे।
तो जावेंगे न उपवन मे शान्ति देंगे उसे वे ॥२५॥

जो सेवा हो कुँवर करते स्वीय - माता - पिता की।
या वे होवे स्व - गुरुजन को बैठ सम्मान देते।
ऐसे बेले यदि सुन पड़े आर्त - वाणी उन्हे तो।
वे देवेंगे शरण उसको त्याग सेवा बड़ो की ॥२६॥

जो वे बैठे सदन करते कार्य्य होवे अनेको।
औ कोई आ कथन उनसे यों करे व्यग्र हो के।
गेहो को है दहन करती वर्धिता - ज्वाल - माला।
तो दौड़ेंगे तुरत तज वे कार्य्य प्यारे - सहस्रो ॥२७॥

कोई प्यारा - सुहृद उनका या स्व - जातीय - प्राणी।
दुष्टात्मा हो, मनुज - कुल का शत्रु हो, पातकी हो।
तो वे सारी हृदय - तल की भूल के वेदनाये।
शास्ता हो के उचित उसको दण्ड औ शास्ति देंगे ॥२८॥

हाथों मे जो प्रिय - कुँवर के न्यस्त हो कार्य्य कोई।
पीड़ाकारी सकल - कुल का जाति का बांधवों का।
तो हो के भी दुखित उसको वे सुखी हो करेंगे।
जो देखेंगे निहित उसमे लोक का लाभ कोई ॥२९॥

अच्छे - अच्छे बहु - फलद औ सर्व - लोकोपकारी।
कार्य्यों की है अवलि अधुना सामने लोचनो के।
पूरे - पूरे निरत उनमे सर्वदा है विहारी।
जी से प्यारी ब्रज - अवनि मे है इसीसे न आते ॥३०॥

हो जावेगी बहु - दुखद जो स्वल्प शैथिल्य द्वारा।
जो देवेगी सु - फल मति के साथ सम्पन्न हो के।
ऐसी नाना - परम - जटिला राज की नीतियाँ भी।
बाधाकारी कुँवर चित की वृत्ति मे हो रही हैं ॥३१॥

तो भी मैं हूँ न यह कहता नन्द के प्राण - प्यारे।
आवेंगे ही न अब ब्रज मे औ उसे भूल देंगे।
जो है प्यारा परम उनका चाहते वे जिसे हैं।
निर्मोही हो अहह उसको श्याम कैसे तजेंगे ॥३२॥

हाँ भावी है परम - प्रबला दैव - इच्छा बली है।
होते होते जगत कितने काम ही हैं न होते।
जो ऐसा ही कु - दिन ब्रज की मेदिनी - मध्य आये।
तो थोड़ा भी हृदय - बल को गोपियो ! खो न देना ॥३३॥

जो संतप्ता - सलिल - नयना - बालिकाये कई हैं।
ऐ प्राचीना - तरल - हृदया - गोपियो स्नेह - द्वारा।
शिक्षा देना समुचित इन्हे कार्य्य होगा तुमारा।
होने पावे न वह जिससे मोह - माया - निमग्ना ॥३४॥

जो बूझेगा न ब्रज कहते लोक-सेवा किसे है।
जो जानेगा न वह, भव के श्रेय का मर्म क्या है।
जो सोचेगा न गुरु-गरिमा लोक के प्रेमिको की।
कर्त्तव्यों मे कुँवर-वर को तो बड़ा-क्लेश होगा ॥३५॥

प्राय: होता हृदय-तल है एक ही मानवो का।
जो पाता है न सुख यक तो अन्य भी है न पाता।
जो पीड़ाये-प्रबल बन के एक को है सताती।
तो होने से व्यथित बचता दूसरा भी नही है ॥३६॥

जो ऐसी ही रुदन करती बालिकाये रहेगी।
पीड़ाये भी विविध उनको जो इसी भाँति होगी।
यो ही रो-रो सकल ब्रज जो दग्ध होता रहेगा।
तो आवेगा ब्रज-अधिप के चित्त को चैन कैसे ॥३७॥

जो होवेगा न चित उनका शान्त स्वच्छन्दचारी।
तो वे कैसे जगत-हित को चारुता से करेगे।
सत्कार्य्यों मे परम-प्रिय के अल्प भी विघ्न-बाधा।
कैसे होगी उचित, चित मे गोपियो, सोच देखो ॥३८॥

धीरे-धीरे भ्रमित-मन को योग-द्वारा सम्हालो।
स्वार्थो को भी जगत-हित के अर्थ सानन्द त्यागो।
भूलो मोहो न तुम लख के वासना-मूर्त्तियो को।
यो होवेगा दुख शमन औ शान्ति न्यारी मिलेगी ॥३९

ऊधो बाते, हृदय-तल की वेधिनी गूढ़ प्यारी।
खिन्ना हो हो स-विनय सुना सर्व-गोपी-जनो ने।
पीछे बोली अति-चकित हो म्लान हो उन्मना हो।
कैसे मूर्खा अधम हम सी आपकी बात बूझें ॥४०॥

हो जाते है भ्रमित जिसमे भूरि - ज्ञानी - मनीषी ।
कैसे होगा सुगम - पथ सो मंद - धी नारियो को ।
छोटे - छोटे सरित - सर मे डूबती जो तरी है ।
सो भू - व्यापी सलिल - निधि के मध्य कैसे तिरेगी ।।४१।।

वे त्यागेगी सकल - सुख औ स्वार्थ - सारा तजेंगी ।
औ रक्खेगी निज - हृदय मे वासना भी न कोई ।
ज्ञानी - ऊधो जतन इतनी बात ही का बता दो ।
कैसे त्यागे हृदय - धन को प्रेमिका - गोपिकाये ।।४२।।

भोगों को औ भुवि - विभव को लोक की लालसा को ।
माता - भ्राता स्वप्रिय - जन को बन्धु को बांधवो को ।
वे भूलेंगी स्व - तन - मन को स्वर्ग की सम्पदा को ।
हा ! भूलेगी जलद - तन की श्यामली मूर्त्ति कैसे ।।४३।।

जो प्यारा है अखिल - ब्रज के प्राणियो का बड़ा ही ।
रोमो की भी अवलि जिसके रंग ही मे रँगी है ।
कोई देही बन अवनि मे भूल कैसे उसे दे ।
जो प्राणो मे हृदय - तल मे लोचनो मे रमा हो ।।४४।।

भूला जाता वह स्वजन है चित्त में जो बसा हो ।
देखी जा के सु - छवि जिसकी लोचनो मे रमी हो ।
कैसे भूले कुँवर जिनमे चित्त ही जा बसा है ।
प्यारी - शोभा निरख जिसकी आप आँखें रमी है ।।४५।।

कोई ऊधो यदि यह कहे काढ़ दे गोपिकायें ।
प्यारा - न्यारा निज - हृदय तो वे उसे काढ़ देगी ।
हो पावेगा न यह उनसे देह मे प्राण होते ।
उद्योगी हो हृदय - तल से श्याम को काढ़ देवे ।।४६।।

मीठे-मीठे वचन जिसके नित्य ही मोहते थे।
हा! कानो से श्रवण करती हूँ उसीकी कहानी।
भूले से भी न छवि उसकी आज हूँ देख पाती।
जो निर्मोही कुँवर बसते लोचनो मे सदा थे ॥४७॥

मै रोती हूँ व्यथित बन के कूटती हूँ कलेजा।
या आँखो से पग-युगल की माधुरी देखती थी।
या है ऐसा कु-दिन इतना हो गया भाग्य खोटा।
मै प्यारे के चरण-तल की धूलि भी हूँ न पाती ॥४८॥

ऐसी कुंजें व्रज-अवनि मे है अनेको जहाँ जा।
आ जाती है दृग-युगल के सामने मूर्ति-न्यारी।
प्यारी-लीला उमग जसुदा-लाल ने है जहाँ की।
ऐसी ठौरो ललक दृग है आज भी लग्न होते ॥४९॥

फूली डाले सु-कुसुममयी नीप की देख आँखो।
आ जाती है हृदय-धन की मोहनी मूर्त्ति आगे।
कालिन्दी के पुलिन पर आ देख नीलाम्बु न्यारा।
हो जाती है उदय उर मे माधुरी अम्बुदो सी ॥५०॥

सूखे न्यारा सलिल सरि का दग्ध हो कुंज-पुंजे।
फूटे आँखे, हृदय-तल भी ध्वंस हो गोपियो का।
सारा वृन्दा-विपिन उजड़े नीप निर्मूल होवे।
तो भूलेगे प्रथित-गुण के पुण्य-पाथोधि माधो ॥५१॥

आसीना जो मलिन-वदना बालिकाये कई है।
ऐसी ही है व्रज-अवनि मे बालिकाये अनेको।
जी होता है व्यथित जिनका देख उद्विग्न हो हो।
रोना-धोना विकल बनना दग्ध होना न सोना ॥५२॥

पूजायें त्यो विविध - व्रत औ सैकड़ो ही क्रियाये।
सालो की है परम - श्रम से भक्ति - द्वारा उन्होने।
ब्याही जाऊँ कुँवर - वर से एक वांछा यही थी।
सो वांछा है विफल बनती दग्ध वे क्यो न होगी ॥५३॥

जो वे जी से कमल - दृग की प्रेमिका हो चुकी है।
भोला - भाला निज - हृदय जो श्याम को दे चुकी है।
जो ऑखो मे सु - छवि बसती मोहिनी - मूर्त्ति की है।
प्रेमोन्मत्ता न तब फिर क्यो वे धरा - मध्य होगी ॥५४॥

नीला प्यारा - जलद जिनके लोचनो मे रमा है।
कैसे होगी अनुरत कभी धूम के पुंज मे वे।
जो आसक्ता स्व - प्रियवर मे वस्तुत: हो चुकी है।
वे देवेगी हृदय - तल में अन्य को स्थान कैसे ॥५५॥

सोचो ऊधो यदि रह गई बालिकाये कुमारी।
कैसी होगी ब्रज - अवनि के प्राणियो को व्यथाये।
वे होवेगी दुखित कितनी और कैसी विपन्ना।
हो जावेगे दिवस, उनके कंटकाकीर्ण कैसे। ॥५६॥

सर्वांगो मे लहर उठती यौवनाम्भोधि की है।
जो है घोरा परम - प्रबला औ महोच्छ्वास - शीला।
तोड़े देती प्रबल - तुरि जो ज्ञान औ बुद्धि की है।
वातो से है दलित जिसके धैर्य्य का शैल होता ॥५७॥

ऐसे ओखे - उदक - निधि मे है पड़ी बालिकाये।
झोके से है पवन बहती काल की वामता की।
आवर्त्तों मे तरि - पतित है नौ - धनी है न कोई।
हा! कैसी है विपद कितनी संकटापन्न वे है ॥५८॥

शोभा देता सतत उनकी दृष्टि के सामने था।
वांछा पुष्पाकलित सुख का एक उद्यान फूला।
हा! सो शोभा-सदन अब है नित्य उत्सन्न होता।
सारे प्यारे कुसुम-कुल भी हैं न उत्फुल्ल होते ॥५९॥

जो मर्य्यादा सुमति, कुल की लाज को है जलाती।
फूँके देती परम-तप से प्राप्त सं-सिद्धि को है।
ए बालाये परम-सरला सर्वथा अप्रगल्भा।
कैसे ऐसी मदन-दव की तीव्र-ज्वाला सहेंगी ॥६०॥

चक्री होते चकित जिससे काँपते हैं पिनाकी।
जो वज्री के हृदय-तल को क्षुब्ध देता बना है।
जो है पूरा व्यथित करता विश्व के देहियो को।
कैसे ऐसे रति-रमण के बाण से वे बचेंगी ॥६१॥

जो हो के भी परम-मृदु है वज्र का काम देता।
जो हो के भी कुसुम, करता शैल की सी क्रिया है।
जो हो के भी मधुर बनता है महा-दग्ध-कारी।
कैसे ऐसे मदन-शर से रक्षिता वे रहेंगी ॥६२॥

प्रत्यंगो मे प्रचुर जिसकी व्याप जाती कला है।
जो हो जाता अति विषम है काल-कूटादिको सा।
मद्यो से भी अधिक जिसमे शक्ति उन्मादिनी है।
कैसे ऐसे मदन-मद से वे न उन्मत्त होगी ॥६३॥

कैसे कोई अहह उनको देख आँखो सकेगा।
वे होवेगी विकटतम औ घोर रोमांच-कारी।
पीड़ाये जो 'मदन' हिम के पात के तुल्य देगा।
स्नेहोत्फुल्ला-विकच-वदना बलिकांभोजिनी को ॥६४॥

मेरी बाते श्रवण करके आप जो पूछ बैठे।
कैसे प्यारे - कुँवर अकले व्याहते सैकड़ो को।
तो है मेरी विनय इतनी आप सा उच्च - ज्ञानी।
क्या ज्ञाता है न बुध - विदिता प्रेम की अंधता का ॥६५॥

आसक्ता हैं विमल - विधु की तारिकायें अनेकों।
हैं लाखो ही कमल - कलियाँ भानु की प्रेमिकायें।
जो बालायें विपुल हरि मे रक्त हैं चित्र क्या है ?
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ॥६६॥

जो धाता ने अवनि - तल मे रूप की सृष्टि की है।
तो क्यो ऊधो न वह नर के मोह का हेतु होगा।
माधो जैसे रुचिर जन के रूप की कान्ति देखे।
क्यों मोहेगी न बहु - सुमना - सुन्दरी - बालिकायें ॥६७॥

जो मोहेगी जतन मिलने का न कैसे करेंगी।
वे होवेगी न यदि सफला क्यो न उद्भ्रान्त होगी।
ऊधो पूरी जटिल इनकी हो गई है समस्या।
यो तो सारी व्रज - अवनि ही है महा शोक - मग्ना ॥६८॥

जो वे आते न व्रज बरसो, टूट जाती न आशा।
चोटे खाता न उर उतना जी न यो ऊब जाता।
जो वे जा के न मधुपुर मे वृष्णि - वंशी कहाते।
प्यारे बेटे न यदि बनते श्रीमती देवकी के ॥६९॥

ऊधो वे हैं परम सुकृती भाग्यवाले बड़े हैं।
ऐसा न्यारा - रतन जिनको आज यो हाथ आया।
सारे प्राणी व्रज - अवनि के हैं बड़े ही अभागे।
जो पाते ही न अब अपना चारु चिन्तामणी हैं ॥७०॥

भोली - भाली ब्रज - अवनि क्या योग की रीति जाने।
कैसे बूझें अ - बुध अबला ज्ञान - विज्ञान बाते।
देते क्यो हो कथन कर के बात ऐसी व्यथाये।
देखूँ प्यारा वदन जिनसे यत्न ऐसे बता दो ॥७१॥

न्यारी - क्रीड़ा ब्रज - अवनि में आ पुनः वे करेंगे।
आँखे होगी सुखित फिर भी गोप - गोपांगना की।
वंशी होगी ध्वनित फिर भी कुंज मे काननों मे।
आवेंगे वे दिवस फिर भी जो अनूठे बड़े हैं ॥७२॥

श्रेयःकारी सकल ब्रज की है यही एक आशा।
थोड़ा किम्वा अधिक इससे शान्ति पाता सभी है।
ऊधो तोड़ो न तुम कृपया ईदृशी चारु आशा।
क्या पाओगे अवनि ब्रज की जो समुत्सन्न होगी ॥७३॥

देखो सोचो दुखमय - दशा श्याम - माता - पिता की।
प्रेमोन्मत्ता विपुल व्यथिता बालिका को विलोको।
गोपो को औ विकल लख के गोपियो को पसीजो।
ऊधो होती मृतक ब्रज की मेदिनी को जिला दो ॥७४॥

वसन्ततिलका छन्द

बोली स - शोक अपरा यक गोपिका यो।
ऊधो अवश्य कृपया ब्रज को जिलाओ।
जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ।
लौटाल श्याम - घन को ब्रज - मध्य लाओ ॥७५॥

अत्यन्त - लोक - प्रिय विश्व - विमुग्ध - कारी।
जैसा तुम्हे चरित मै अब हूँ सुनाती।
ऐसी करो ब्रज लखे फिर कृत्य वैसा।
लावण्य - धाम फिर दिव्य - कला दिखावे ॥७६॥

भू में रमी शरद की कमनीयता थी।
नीला अनन्त - नभ निर्मल हो गया था।
थी छा गई ककुभ में अमिता सिताभा।
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती ॥७७॥

होता सतोगुण प्रसार दिगन्त में है।
है विश्व - मध्य सितता अभिवृद्धि पाती।
सारे स - नेत्र जन को यह थे बताते।
कान्तार - काश, विकसे सित - पुष्प - द्वारा ॥७८॥

शोभा - निकेत अति - उज्वल कान्तिशाली।
था वारि - विन्दु जिसका नव मौक्तिकों सा।
स्वच्छोदका विपुल - मंजुल - वीचि - शीला।
थी मन्द - मन्द बहती सरितातिभव्या ॥७९॥

उच्छ्वास था न अब कूल विलीनकारी।
था वेग भी न अति - उत्कट कर्ण - भेदी।
आवर्त्त - जाल अब था न धरा - विलोपी।
धीरा, प्रशान्त, विमलाम्बुवती, नदी थी ॥८०॥

था मेघ शून्य नभ उज्वल - कान्ति वाला।
मालिन्य - हीन मुदिता नव - दिग्वधू थी।
थी भव्य - भूमि गत - कर्दम स्वच्छ रम्या।
सर्वत्र धौत जल निर्मलता लसी थी ॥८१॥

कान्तार में सरित - तीर सुगह्वरों में।
थे मंद - मंद बहते जल स्वच्छ - सोते।
होती अजस्र उनमें ध्वनि थी अनूठी।
वे थे कृती शरद की कल - कीर्त्ति गाते ॥८२॥

नाना नवागत - विहंग - वरूथ - द्वारा।
वापी तड़ाग सर शोभित हो रहे थे।
फूले सरोज मिष हर्षित लोचनो से।
वे हो विमुग्ध जिनको अवलोकते थे ॥८३॥

नाना - सरोवर खिले - नव - पंकजो को।
ले अंक मे विलसते मन - मोहते थे।
मानों पसार अपने शतशः करो को।
वे माँगते शरद से सु - विभूतियाँ थे ॥८४॥

प्यारे सु - चित्रित सितासित रंगवाले।
थे दीखते चपल - खंजन प्रान्तरो मे।
बैठी मनोरम सरो पर सोहती थी।
आई स - मोद ब्रज - मध्य मराल - माला ॥८५॥

प्रायः निरम्बु कर पावस - नीरदों को।
पानी सुखा प्रचुर - प्रान्तर औ पथों का।
न्यारे - असीम - नभ मे मुदिता मही में।
व्यापी नवोदित - अगस्त नई - विभा थी ॥८६॥

था कार - मास निशि थी अति - रम्य - राका।
पूरी कला - सहित शोभित चन्द्रमा था।
ज्योतिर्मयी विमलभूत दिशा बना के।
सौदर्य्य साथ लसती क्षिति में सिता थी ॥८७॥

शोभा - मयी शरद की ऋतु पा दिशा मे।
निर्मेघ - व्योम - तल मे सु - वसुंधरा मे।
होती सु - संगति अतीव - मनोहरा थी।
न्यारी कलाकर - कला नव स्वच्छता की ॥८८॥

प्यारी - प्रभा रजनि - रंजन की नगो को।
जो थी असंख्य नव - हीरक से लसाती।
तो वीचि मे तपन की प्रिय - कन्यका के।
थी चारु - चूर्ण - मणि मौक्तिक के मिलाती ॥८९॥

थे स्नात से सकल - पादप चन्द्रिका से।
प्रत्येक - पल्लव प्रभा - मय दीखता था।
फैली लता विकच - वेलि प्रफुल्ल - शाखा।
डूबी विचित्र - तर निर्मल - ज्योति मे थी ॥९०॥

जो मेदिनी रजत - पत्र - मयी हुई थी।
किम्वा पयोधि - पय से यदि प्लाविता थी।
तो पत्र - पत्र पर पादप - वेलियो के।
पूरी हुई प्रथित - पारद - प्रक्रिया थी ॥९१॥

था मंद - मंद हँसता विधु व्योम - शोभी।
होती प्रवाहित धरातल मे सुधा थी।
जो पा प्रवेश दृग मे प्रिय - अंशु - द्वारा।
थी मत्त - प्राय करती मन - मानवो का ॥९२॥

अत्युज्वला पहन तारक - मुक्त - माला।
दिव्याबरा बन अलौकिक - कौमुदी से।
शोभा - भरी परम - मुग्धकरी हुई थी।
राका कलाकर - मुखी रजनी - पुरन्ध्री ॥९३॥

पूरी समुज्वल हुई सित - यामिनी थी।
होता प्रतीत रजनी - पति भानु सा था।
पीती कभी परम - मुग्ध वनी सुधा थी।
होती कभी चकित थी चतुरा - चकोरी ॥९४॥

ले पुष्प - सौरभ तथा पय - सीकरो को।
थी मन्द - मन्द बहती पवनाति प्यारी।
जो थी मनोरम अतीव - प्रफुल्ल - कारी।
हो सिक्त सुन्दर सुधाकर की सुधा से ॥९५॥

चन्द्रोज्वला रजत - पत्र - वती मनोज्ञा।
शान्ता नितान्त - सरसा सु - मयूख सिक्ता।
शुभ्रांगिनी सु - पवना सुजला सु - कूला।
सत्पुष्पसौरभवती वन - मेदनी थी ॥९६॥

ऐसी अलौकिक अपूर्व वसुंधरा मे।
ऐसे मनोरम - अलंकृत - काल को पा।
वंशी अचानक बजी अति ही रसीली।
आनन्द - कन्द व्रज - गोप - गणाग्रणी की ॥९७॥

भावाश्रयी मुरलिका स्वर मुग्ध - कारी।
आदौ हुआ मरुत साथ दिगन्त - व्यापी।
पीछे पड़ा श्रवण मे बहु - भावुको के।
पीयूष के प्रमुद - वर्द्धक - विन्दुओ सा ॥९८॥

पूरी विमोहित हुईं यदि गोपिकाये।
तो गोप - वृन्द अति - मुग्ध हुए स्वरो से।
फैली विनोद - लहरे व्रज - मेदिनी में।
आनन्द - अंकुर उगा उर मे जनो के ॥९९॥

वंशी - निनाद सुन त्याग निकेतनो को।
दौड़ी अपार जनताति उमंगिता हो।
गोपी - समेत बहु गोप तथांगनाये।
आईं विहार - रुचि से वन - मेदिनी मे ॥१००॥

उत्साहिता विलसिता बहु - मुग्ध - भूता ।
आई विलोक जनता अनुराग - मग्ना ।
की श्याम ने रुचिर - क्रीड़न की व्यवस्था ।
कान्तार मे पुलिन पै तपनांगजा के ॥१०१॥

हो हो विभक्त बहुशः दल मे सबों ने ।
प्रारंभ की विपिन मे कमनीय - क्रीड़ा ।
बाजे बजा अति - मनोहर - कण्ठ से गा ।
उन्मत्त - प्राय बन चित्त - प्रमत्तता से ॥१०२॥

मंजीर नूपुर मनोहर - किंकिणी की ।
फैली मनोज्ञ - ध्वनि मंजुल वाद्य की सी ।
छेड़ी गई फिर स - मोद गई बजाई ।
अत्यन्त कान्त कर से कमनीय - वीणा ॥१०३॥

थापे मृदंग पर जो पड़ती सधी थी ।
वे थीं स - जीव स्वर - सप्तक को बनाती ।
माधुर्य्य - सार बहु - कौशल से मिला के ।
थीं वाद को श्रुति मनोहरता सिखाती ॥१०४॥

मीठे - मनोरम - स्वरांकित वेणु नाना ।
हो के निनादित विनोदित थे बनाते ।
थी सर्व मे अधिक - मंजुल - मुग्धकारी ।
वंशी महा - मधुर केशव कौशली की ॥१०५॥

हो - हो सुवादित मुकुन्द सदंगुली से ।
कान्तार मे मुरलिका जब गूँजती थी ।
तो पत्र - पत्र पर था कल - नृत्य होता ।
रागांगना - विधु - मुखी चपलांगिनी का ॥१०६॥

भू - व्योम - व्यापित कलाधर की सुधा मे।
न्यारी - सुधा मिलित हो मुरली - स्वरो की।
धारा अपूर्व - रस की महि में वहा के।
सर्वत्र थी अति - अलौकिकता लसाती ॥१०७॥

उत्फुल्ल थे विटप - वृन्द विशेप होते।
माधुर्य्य था विकच, पुष्प - समूह पाता।
होती विकाश - मय मंजुल - वेलियाँ थी।
लालित्य - धाम वनती नवला लता थी ॥१०८॥

क्रीड़ा-मयी ध्वनि-मयी कल-ज्योतिवाली।
धारा अश्वेत सरि की अति तद्गता थी।
थी नाचती उमगती अनुरक्त होती।
उल्लासिता विहसितातित प्रफुल्लिता थी ॥१०९॥

पाई अपूर्व - स्थिरता मृदु - वायु ने थी।
मानो अचंचल विमोहित हो बनी थी।
वंशी मनोज्ञ - स्वर से वहु - मोदिता हो।
माधुर्य्य - साथ हँसती सित - चन्द्रिका थी ॥११०॥

सत्कण्ठ साथ नर - नारि - समूह - गाना।
उत्कण्ठ था न किसको महि मे बनाता।
ताने उमंगित - करी कल - कण्ठ जाता।
तंत्री रही जन - उरस्थल की बजाती ॥१११॥

ले वायु कण्ठ - स्वर, वेणु - निनाद - न्यारा।
प्यारी मृदंग - ध्वनि, मंजुल बीन - मीड़े।
सामोद घूम बहु - पान्थ खगो मृगो को।
थी मत्तप्राय नर - किन्नर को बनाती ॥११२॥

हीरा समान बहु - स्वर्ण - विभूषणों में।
नाना विहंग - रव में पिक - काकली सी।
होती नहीं मिलित थीं अति थीं निराली।
नाना - सुवाद्य - स्वन में हरि - वेणु - तानें ॥११३॥

ज्यों ज्यों हुई अधिकता कल - वादिता की।
ज्यों ज्यों रही सरसता अभिवृद्धि पाती।
त्यों त्यों कला विवशता सु - विमुग्धता की।
होती गई समुदिता उर में सबों के ॥११४॥

गोपी समेत अतएव समस्त - ग्वाले।
भूले स्व - गात - सुधि हो मुरली - रसार्द्र।
गाना रुका सकल - वाद्य रुके स - वीणा।
वंशी - विचित्र - स्वर केवल गूँजता था ॥११५॥

होती प्रतीति उर में उस काल यों थी।
है मंत्र साथ मुरली अभिमंत्रिता सी।
उन्माद - मोहन - वशीकरणादिकों के।
है मंजु - धाम उसके ऋजु - रंध्र - सातों ॥११६॥

पुत्र - प्रिया - सहित मंजुल - राग गा - गा।
ला - ला स्वरूप उनका जन - नेत्र - आगे।
ले - ले अनेक उर - वेधक - चारु - तानें।
कीं श्याम ने परम - मुग्धकरी क्रियायें ॥११७॥

पीछे अचानक रुकीं वर - वेणु तानें।
चावों समेत सबकी सुधि लौट आई।
आनंद - नादमय कंठ - समूह द्वारा।
हो - हो पड़ीं ध्वनित बार कई दिशाएँ ॥११८॥

माधो विलोक सबको मुद - मत्त बोले।
देखो छटा - विपिन की कल - कौमुदी मे।
आना करो सफल कानन में गृहो से।
शोभामयी - प्रकृति की गरिमा विलोको ॥११९॥

बीसों विचित्र - दल केवल नारि का था।
यो ही अनेक दल केवल थे नरो के।
नारी तथा नर मिले दल थे सहस्रो।
उत्कण्ठ हो सब उठे सुन श्याम - बाते ॥१२०॥

सानन्द सर्व - दल कानन - मध्य फैला।
होने लगा सुखित दृश्य विलोक नाना।
देने लगा उर कभी नवला - लता को।
गाने लगा कलित - कीर्ति कभी कला की ॥१२१॥

आभा - अलौकिक दिखा निज - वल्लभा को।
पीछे कला - कर - मुखी कहता उसे था।
तोभी तिरस्कृत हुए छवि - गर्विता से।
होता प्रफुल्ल तम था दल - भावुको का ॥१२२॥

जा कूल स्वच्छ - सर के नलिनी दलो मे।
आबद्ध देख दृग से अलि - दारु - वेधी।
उत्फुल्ल हो समझता अवधारता था।
उद्दाम - प्रेम - महिमा दल - प्रेमिको का ॥१२३॥

विच्छिन्न हो स्व - दल से बहु - गोपिकाये।
स्वच्छन्द थी विचरती रुचिर - स्थलो मे।
या बैठ चन्द्र - कर - धौत - धरातलो मे।
वे थी स - मोद करती मधु - सिक्त बाते ॥१२४॥

कोई प्रफुल्ल - लतिका कर से हिला के।
वर्षा - प्रसून चय की कर मुग्ध होता।
कोई स - पल्लव स - पुष्प मनोज्ञ - शाखा।
था प्रेम साथ रखता कर मे प्रिया के ॥१२५॥

आ मंद - मंद मन - मोहन मण्डली मे।
बाते बड़ी - सरस थे सबको सुनाते।
हो भाव - मत्त - स्वर मे मृदुता मिला के।
या थे महा - मधु - मयी - मुरली बजाते ॥१२६॥

आलोक - उज्वल दिखा गिरि - श्रृंग - माला।
थे यो मुकुन्द कहते छवि - दर्शको से।
देखो गिरीन्द्र - शिर पै महती - प्रभा का।
है चन्द्र - कान्त - मणि - मण्डित - क्रीट कैसा ॥१२७॥

धारा - मयी अमल श्यामल - अर्कजा मे।
प्रायः स - तारक विलोक मयंक - छाया।
थे सोचते खचित - रत्न असेत शाटी।
है पैन्ह ली प्रमुदिता वन - भू - वधू ने ॥१२८॥

ज्योतिर्मयी - विकसिता - हसिता लता को।
लालित्य साथ लपटी तरु से दिखा के।
थे भाखते पति - रता - अवलम्बिता का।
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता ॥१२९॥

आलोक से लसित पादप - वृन्द नीचे।
छाये हुए तिमिर को कर से दिखा के।
थे यो मुकुन्द कहते मलिनान्तरो का।
है बाह्य रूप बहु - उज्वल दृष्टि आता ॥१३०॥

ऐसे मनोरम - प्रभामय - काल मे भी।
म्लाना नितान्त अवलोक सरोजिनी को।
थे यो ब्रजेन्दु कहते कुल - कामिनी को।
स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता ॥१३१॥

फूले हुए कुमुद देख सरोवरो मे।
माधो सु - उक्ति यह थे सबको सुनाते।
उत्कर्ष देख निज - अंकपले - शशी का।
है वारि - राशि कुमुदो मिष हृष्ट होता ॥१३२॥

फैली विलोक सब ओर मयंक - आभा।
आनन्द साथ कहते यह थे बिहारी।
है कीर्त्ति, भू ककुभ मे अति - कान्त छाई।
प्रत्येक धूलि - कणरंजन - कारिणी की ॥१३३॥

फूलो दलो पर विराजित ओस - बूँदे।
जो श्याम को दमकती द्युति से दिखाती।
तो वे समोद कहते वन - देवियो ने।
की है कला पर निछावर मंजु - मुक्ता ॥१३४॥

आपाद - मस्तक खिले कमनीय पौधे।
जो देखते मुदित होकर तो बताते।
होके सु - रंजित सुधा - निधि की कला से।
फूले नहीं नवल - पादप है समाते ॥१३५॥

यो थे कलाकर दिखा कहते बिहारी।
है स्वर्ण - मेरु यह मंजुलता - धरा का।
है कल्प - पादप मनोहरताटवी का।
आनन्द - अंबुधि महामणि है मृगांक ॥१३६॥

है ज्योति - आकर पयोनिधि है सुधा का।
शोभा - निकेत प्रिय वल्लभ है निशा का।
है भाल का प्रकृति के अभिराम भूषा।
सर्वस्व है परम - रूपवती कला का ॥१३७॥

जैसी मनोहर हुई यह यामिनी थी।
वैसी कभी न जन - लोचन ने विलोकी।
जैसी बही रससरी इस शर्वरी मे।
वैसी कभी न ब्रज - भूतल मे बही थी ॥१३८॥

जैसी बजी मधुर - बीन मृदंग - वंशी।
जैसा हुआ रुचिर नृत्य विचित्र गाना।
जैसा बँधा इस महा - निशि मे 'समाँ' था।
होगी न कोटि मुख से उसकी प्रशंसा ॥१३९॥

न्यारी छटा वदन की जिसने विलोकी।
वंशी - निनाद मन दे जिसने सुना है।
देखा विहार जिसने इस यामिनी मे।
कैसे मुकुन्द उसके उर से कढ़ेगे ॥१४०॥

हो के विभिन्न, रवि का कर, ताप त्यागे।
देवे मयंक - कर को तज माधुरी भी।
तो भी नही ब्रज - धरा - जन के उरो से।
उत्फुल्ल - मूर्त्ति मनमोहन की कढ़ेगी ॥१४१॥

धारा वही जल वही यमुना वही है।
है कुंज - वैभव वही वन - भू वही है।
है पुष्प - पल्लव वही ब्रज भी वही है।
ए है वही न घनश्याम बिना जनाते ॥१४२॥

कोई दुखी-जन विलोक पसीजता है।
कोई विषाद-वश रो पड़ता दिखाया।
कोई प्रबोध कर, 'है, परितोप देता।
है किन्तु सत्य हित-कारक व्यक्ति कोई ॥१४३॥

सच्चे हितू तुम बनो ब्रज की धरा के।
ऊधो यही विनय है मुझ सेविका की।
कोई दुखी न ब्रज के जन-तुल्य होगा।
ए है अनाथ-सम भूरि-कृपाधिकारी ॥१४४॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

बातो ही मे दिन गत हुआ किन्तु गोपी न ऊबी।
वैसे ही थी कथन करती वे व्यथाये स्वकीया।
पीछे आई पुलिन पर जो सैकड़ो गोपिकाये।
वे कष्टो को अधिकतर हो उत्सुका थी सुनाती ॥१४५॥

वंशस्थ छन्द

परन्तु संध्या अवलोक आगता।
मुकुन्द के बुद्धि-निधान बंधु ने।
समस्त गोपी-जन को प्रबोध दे।
समाप्त आलोचित-वृत्त को किया ॥१४६॥

द्रुतविलम्बित छन्द

तदुपरान्त अतीव सराहना।
कर अलौकिक-पावन प्रेम की।
ब्रज-वधू-जन की कर सान्त्वना।
ब्रज-विभूषण-बंधु बिदा हुए ॥१४७॥

पंचदश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

छाई प्रातः - सरस छवि थी पुष्प औ पल्लवो मे ।
कुंजो मे थे भ्रमण करते हो महा - मुग्ध ऊधो ।
आभा - वाले अनुपम इसी काल मे एक बाला ।
भावो - द्वारा - भ्रमित उनको सामने दृष्टि आई ॥ १ ॥

नाना बाते कथन करते देख पुष्पादिको से ।
उन्मत्ता की तरह, करते देख न्यारी - क्रियाये ।
उत्कण्ठा के सहित उसका वे लगे भेद लेने ।
कुजों मे या विटपचय की ओट मे मौन बैठे ॥ २ ॥

थे बाला के दृग - युगल के सामने पुष्प नाना ।
जो हो - हो के विकच, कर मे भानु के सोहते थे ।
शोभा पाता यक कुसुम था लालिमा पा निराली ।
सो यो बोली निकट उसके जा बड़ी ही व्यथा से ॥ ३ ॥

आहा कैसी तुझ पर लसी माधुरी है अनूठी ।
तू ने कैसी सरस - सुषमा आज है पुष्प पाई ।
चूमूँ चाटूँ नयन भर मै रूप तेरा विलोकूँ ।
जी होता है हृदय - तल से मै तुझे ले लगा लूँ ॥ ४ ॥

क्या बाते है मधुर इतना आज तू जो बना है।
क्या आते है ब्रज-अवनि मे मेघ सी कान्तिवाले ?।
या कुंजो मे अटन करते देख पाया उन्हे है।
या आ के है स-मुद परसा हस्त-द्वारा उन्होने ॥५॥

तेरी प्यारी मधुर-सरसा-लालिमा है बताती।
डूबा तेरा हृदय-तल है लाल के रंग ही मे।
मै होती हूँ विकल पर तू बोलता भी नही है।
कैसे तेरी सरस-रसना कुंठिता हो गई है॥६॥

हा ! कैसी मैं निठुर तुझसे वंचिता हो रही हूँ।
जो जिह्वा हूँ कथन-रहिता-पंखड़ी को बनाती।
तू क्यो होगा सदय दुख क्यो दूर मेरा करेगा।
तू कॉटो से जनित यदि है काठ का जो सगा है॥७॥

आ के जूही-निकट फिर यो बालिका व्यग्र बोली।
मेरी बाते तनिक न सुनी पातकी-पाटलो ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है।
जूही तू है विकच-वदना शान्ति तू ही मुझे दे॥८॥

तेरी भीनी-महॅक मुझको मोह लेती सदा थी।
क्यो है प्यारी न वह लगती 'आज, सच्ची बता दे।
क्या तेरी है महॅक बदली या हुई और ही तू।
या तेरा भी सरबस गया साथ ऊधो-सखा के॥९॥

छोटी-छोटी रुचिर अपनी श्याम-पत्रावली मे।
तू शोभा से विकच जब थी भूरिता साथ होती।
ताराओ से खचित नभ सी भव्य तो थी दिखाती।
हा ! क्यो वैसी सरस-छवि से वंचिता आज तू है॥१०॥

वैसी ही है सकल दल मे श्यामता दृष्टि आती।
तू वैसी ही अधिकतर है वेलियो - मध्य फूली।
क्यो पाती हूँ न अब तुझमे चारुता पूर्व जैसी।
क्यो है तेरी यह गत हुई क्या न देगी बता तू ॥११॥

मैं पाती हूँ अधिक तुझमें क्यो कई एक बाते।
क्यो देती है व्यथित कर क्यो वेदना है बढ़ाती।
क्यो होता है न दुख तुझको वंचना देख मेरी।
क्या तू भी है निठुरपन के रंग ही बीच डूबी ॥१२॥

हो - हो पूरी चकित सुनती वेदना है हमारी।
या तू खोले वदन हँसती है दशा देख मेरी।
मै तो तेरा सुमुखि! इतना मर्म्म भी हूँ न पाती।
क्या आशा है अपर तुझसे है निराशामयी तू ॥१३॥

जो होता है सुखित, उसको अन्य की वेदनाये।
क्या होती है विदित वह जो भुक्त - भोगी न होवे।
तू फूली है हरित - दल मे बैठ के सोहती है।
क्या जानेगी मलिन बनते पुष्प की यातनाये ॥१४॥

तू कोरी है न, कुछ तुझ मे प्यार का रंग भी है।
क्या देखेगी न फिर मुझको प्यार की आँख से तू।
मै पूछूँगी भगिनी! तुझसे आज दो - एक बाते।
तू क्या हो के सदय बतला ऐ चमेली न देगी ॥१५॥

थोड़ी लाली पुलकित - करी पंखड़ी - मध्य जो है।
क्या सो वृन्दा-विपिन-पति की प्रीति की व्यंजिका है।
जो है तो तू सरस - रसना खोल ले औ बता दे।
क्या तू भी है प्रिय - गमन से यो महा - शोक - मग्ना ॥१६॥

मेरा जी तो व्यथित बन के बावला हो रहा है।
व्यापी सारे हृदय - तल मे वेदनाये सहस्रो।
मै पाती हूँ न कल दिन में, रात मे ऊबती हूँ।
भीगा जाता सब वदन है वारि - द्वारा दृगो के ॥१७॥

क्या तू भी है रुदन करती यामिनी - मध्य यो ही।
जो पत्तो मे पतित इतनो वारि की बूँदियाँ है।
पीड़ा द्वारा मथित - उर के प्रायशः काँपती है।
या तू होती मृदु - पवन से मन्द आन्दोलिता है ॥१८॥

तेरे पत्ते अति - रुचिर है कोमला तू बड़ी है।
तेरा पौधा कुसुम - कुल मे है बड़ा ही अनूठा।
मेरी आँखे ललक पड़ती है तुझे देखने को।
हा ! क्यो तो भी व्यथित चित की तू न आमोदिका है ॥१९॥

हा ! बोली तू न कुछ मुझसे औ बताई न बाते।
मेरा जी है कथन करता तू हुई तद्गता है।
मेरे प्यारे - कुँवर तुझको चित्त से चाहते थे।
तेरी होगी न फिर दयिते ! आज ऐसी दशा क्यो ॥२०॥

जूही बोली न कुछ जतला प्यार बोली चमेली।
मैने देखा दृग - युगल से रंग भी पाटलो का।
तू बोलेगा सदय बन के ईदृशी है न आशा।
पूरा कोरा निठुरपन की मूर्त्ति ऐ पुष्प बेला ॥२१॥

मै पूछूँगी तदपि तुझसे आज बातें स्वकीया।
तेरा होगा सुयश मुझसे सत्य जो तू कहेगा।
क्यो होते है पुरुप कितने, प्यार से शून्य कोरे।
क्यो होता है न उर उनका सिक्त स्नेहाम्बु द्वारा ॥२२॥

आ के तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
तेरी तीखी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।
क्यों होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका की।
क्यों तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बता तू ॥२३॥

तेरी सारे सुमन-चय से श्वेतता उत्तमा है।
अच्छा होता अधिक यदि तू सात्विकी वृत्ति पाता।
हा! होती है प्रकृति रुचि मे अन्यथा कारिता भी।
तेरा एरे निठुर नतुवा साँवला रंग होता ॥२४॥

नाना पीड़ा निठुर-कर से नित्य मैं पा रही हूँ।
तेरे मे भी निठुरपन का भाव पूरा भरा है।
हो-हो खिन्ना परम तुझसे मै अतः पूछती हूँ।
क्यों देते है निठुर जन यों दूसरो को व्यथाये ॥२५॥

हा! तू बोला न कुछ अब भी तू बड़ा निर्दयी है।
मैं कैसी हूँ विवश तुझसे जो वृथा बोलती हूँ।
खोटे होते दिवस जब है भाग्य जो फूटता है।
कोई साथी अवनि-तल मे है किसीका न होता ॥२६॥

जो प्रेमांगी सुमन बन के औ तदाकार हो के।
पीड़ा मेरे हृदय-तल की पाटलो ने न जानी।
तो तू हो के धवल-तन औ कुन्त-आकार-अंगी।
क्यों बोलेगा व्यथित चित की क्यों व्यथा जान लेगा ॥२७॥

चम्पा तू है विकसित मुखी रूप औ रंगवाली।
पाई जाती सुरभि तुझमे एक सत्पुष्प-सी है।
तो भी तेरे निकट न कभी भूल है भृङ्ग आता।
क्या है ऐसी कसर तुझमे न्यूनता कौन सी है ॥२८॥

क्या पीड़ा है न कुछ इसकी चित्त के मध्य तेरे।
क्या तू ने है मरम इसका अल्प भी जान पाया।
तू ने की है सुमुखि ! अलि का कौन सा दोष ऐसा।
जो तू मेरे सदृश प्रिय के प्रेम से वंचिता है ॥२९॥

सर्वांगों मे सरस-रज औ धूलियो को लपेटे।
आ पुष्पों मे स-विधि करता गर्भ-आधान जो है।
जो ज्ञाता है मधुर-रस का मंजु जो गूँजता है।
ऐसे प्यारे रसिक-अलि से तू असम्मानिता है ॥३०॥

जो आँखों मे मधुर-छवि की मूर्त्ति सी आँकता है।
जो हो जाता उदधि उर के हेतु राका-शशी है।
जो वंशी के सरस-स्वर से है सुधा सी बहाता।
ऐसे माधो-विरह-दव से मै महादग्धिता हूँ ॥३१॥

मेरी तेरी बहुत मिलती वेदनाये कई है।
आ रोऊँ ऐ भगिनि तुझको मैं गले से लगा के।
जो रोती है दिवस-रजनी दोष जाने बिना ही।
ऐसी भी है अवनि-तल मे जन्म लेती अनेको ॥३२॥

मैने देखा अवनि-तल मे श्वेत ही रंग ऐसा।
जैसा चाहे जतन करके रंग वैसा उसे दे।
तेरे ऐसी रुचिर-सितता कुन्द मैने न देखी।
क्या तू मेरे हृदय-तल के रंग मे भी रँगेगा ॥३३॥

क्या है होना विकच इसको पुष्प ही जानते है।
तू कैसा है रुचिर लगता पत्तियो-मध्य फूला।
तो भी कैसी व्यथित-कर है सो कली हाय ! होती।
हो जाती है विधि-कुमति से म्लान फूले बिना जो ॥३४॥

मेरे जी की मृदुल-कलिका प्रेम के रंग राती।
म्लाना होती अहह नित है अल्प भी जो न फूली।
क्या देवेगा विकच इसको स्वीय जैसा बना तू।
या हो शोकोपहत इसके तुल्य तू म्लान होगा ॥३५॥

वे हैं मेरे दिन अब कहाँ स्वीय उत्फुल्लता को।
जो तू मेरे हृदय-तल में अल्प भी ला सकेगा।
हाँ, थोड़ा भी यदि उर मुझे देख तेरा द्रवेगा।
तो तू मेरे मलिन-मन की म्लानता पा सकेगा ॥३६॥

हो जावेगी प्रथित-मृदुता पुष्प संदिग्ध तेरी।
जो तू होगा व्यथित न किसी कष्टिता की व्यथा से।
कैसे तेरी सुमन-अभिधा सार्थ ऐ कुन्द होगी।
जो होवेगा न अ-विकच तू म्लान होते चितों से ॥३७॥

सोने जैसा बरन जिसने गात का है बनाया।
चित्तामोदी सुरभि जिसने केतकी दी तुझे है।
यो काँटों से भरित तुझको क्यों उसीने किया है।
दी है धूली अलि अवलि को दृष्टि-विध्वंसिनी क्यों ॥३८॥

कालिन्दी सी कलित-सरिता दर्शनीया-निकुंजें।
प्यारा-वृन्दा-विपिन विटपी-चारु न्यारी-लतायें।
शोभावाले-विहग जिसने है दिये हा! उसीने।
कैसे माधो-रहित व्रज की मेदनी को बनाया ॥३९॥

क्या थोड़ा भी सजनि! इसका मर्म्म तू पा सकी है।
क्या धातृता की प्रकट इससे मूढ़ता है न होती।
कैसा होता जगत सुख का धाम औ मुग्धकारी।
निर्माता की मिलित इसमें वामता जो न होती ॥४०॥

मैने देखा अधिकतर है भृंग आ पास तेरे।
अच्छा पाता न फल अपनी मुग्धता का कभी है।
आ जाती है दृग - युगल में अंधता धूलि - द्वारा।
काँटो से है उभय उसके पक्ष भी छिन्न होते ॥४१॥

क्यो होती है अहह इतनी यातना प्रेमिको की।
क्यो बाधा औ विपद्मय है प्रेम का पंथ होता।
जो प्यारा औ रुचिर - विटपी जीवनोद्यान का है।
सो क्यों तीखे कुटिल उभरे कंटको से भरा है ॥४२॥

पूरा रागी हृदय - तल है पुष्प बन्धूक तेरा।
मर्य्यादा तू समझ सकता प्रेम के पंथ की है।
तेरी गाढ़ी नवल तन की लालिमा है बताती।
पूरा - पूरा दिवस - पति के प्रेम मे तू पगा है ॥४३॥

तेरे जैसे प्रणय - पथ के पान्थ उत्पन्न हो के।
प्रेमी की है प्रकट करते पक्कता मेदनी से।
मै पाती हूँ परम - सुख जो देख लेती तुझे हूँ।
क्या तू मेरी उचित कितनी प्रार्थनायें सुनेगा ॥४४॥

मैं गोरी हूँ कुँवर - वर की क़ान्ति है मेघ की सी।
कैसे मेरा, महर - सुत का, भेद निर्मूल होगा।
जैसे तू है परम - प्रिय के रंग मे पुष्प डूबा।
सेकै वैसे जलद - तन के रंग मे मै रँगूँगी ॥४५॥

पूरा ज्ञाता समझ तुझको प्रेम की नीतियो का।
मैं ऐ प्यारे कुसुम तुझसे युक्तियाँ पूछती हूँ।
मै पाऊँगी हृदय - तल मे उत्तमा - शांति कैसे।
जो डूबेगा न मम तन भी श्याम के रंग ही मे ॥४६॥

"ऐसी, हो के कुसुम तुझमे प्रेम की पक्वता है।
मै हो के भी मनुज - कुल की, न्यूनता से भरी हूँ।
कैसी लज्जा परम - दुख की बात मेरे लिये है।
छा जावेगा न प्रियतम का रंग सर्वांग मे जो ॥४७॥

वंशस्थ छंद

खिला हुआ सुन्दर - वेलि - अंक मे।
मुझे बता श्याम - घटा प्रसून तू।
तुझे मिली क्यो किस पूर्व - पुण्य से।
अतीव - प्यारी - कमनीय - श्यामता ॥४८॥

हरीतिमा वृन्त समीप की भली।
मनोहरा मध्य विभाग श्वेतता।
लसी हुई श्यामलताग्रभाग मे।
नितान्त है दृष्टि विनोद - वर्द्धिनी ॥४९॥

परन्तु तेरा बहु - रंग देख के।
अतीव होती उर - मध्य है व्यथा।
अपूर्व होता भव मे प्रसून तू।
निमग्न होता यदि श्याम - रंग मे ॥५०॥

तथापि तू अल्प न भाग्यवान है।
चढ़ा हुआ है कुछ श्याम - रंग तो।
अभागिनी है वह, श्यामता नही -
विराजती है जिसके शरीर में ॥५१॥

न स्वल्प होती तुझसे सुगंधि है।
तथापि सम्मानित सर्व - काल मे।
तुझे रखेगा ब्रज - लोक दृष्टि में।
प्रसूनता तेरी यह श्यामलांगता ॥५२॥

निवास होगा जिस ओर सूर्य का।
उसी दिशा ओर तुरंत घूम तू।
विलोकती है जिस चाव से उसे।
सदैव ऐ सूर्यमुखी सु-आनना ॥५३॥

अपूर्व ऐसे दिन थे मदीय भी।
अतीव मैं भी तुझ सी प्रफुल्ल थी।
विलोकती थी जब हो विनोदिता।
मुकुन्द के मंजु-मुखारविन्द को ॥५४॥

परन्तु मेरे अब वे न वार है।
न पूर्व की सी वह है प्रफुल्लता।
तथैव मैं हूँ मलिना यथैव तू।
विभावरी मे बनती मलीन है ॥५५॥

निशान्त मे तू प्रिय स्वीय कान्त से।
पुनः सदा है मिलती प्रफुल्ल हो।
परन्तु होगी न व्यतीत ऐ प्रिये।
मदीय घोरा रजनी-वियोग की ॥५६॥

नृलोक मे है वह भाग्य-शालिनी।
सुखी बने जो विपदावसान मे।
अभागिनी है वह विश्व मे बड़ी।
न अन्त होवे जिसकी विपत्ति का ॥५७॥

मालिनी छन्द

कुवलय-कुल में से तो अभी तू कढ़ा है।
बहु-विकसित प्यारे-पुष्प मे भी रमा है।
अलि अब मत जा तू कुंज में मालती की।
सुन मुझ अकुलाती ऊबती की व्यथायें ॥५८॥

यह समझ प्रसूनों पास में आज आई।
क्षिति-तल पर है ए मूर्त्ति-उत्फुल्लता की।
पर सुखित करेंगे ए मुझे आह! कैसे।
जब विविध दुखों मे मग्न होते स्वयं है ॥५९॥

कतिपय-कुसुमों को म्लान होते विलोका।
कतिपय बहु कीटों के पड़े पेच मे है।
मुख पर कितने हैं वायु की धौल खाते।
कतिपय-सुमनों की पंखड़ी भू पड़ी है ॥६०॥

तदपि इन सबो मे ऐंठ देखी बड़ी ही।
लख दुखित-जनों को ए नहीं म्लान होते।
चित व्यथित न होता है किसीकी व्यथा से।
वह भव-जनितों की वृत्ति ही ईदृशी है ॥६१॥

अयि अलि तुझमे भी सौम्यता हूँ न पाती।
मम दुख सुनता है चित्त दे के नहीं तू।
अति-चपल बड़ा ही ढीठ औ कौतुकी है।
थिर तनक न होता है किसी पुष्प मे भी ॥६२॥

यदि तज कर के तू गूँजना धैर्य्य-द्वारा।
कुछ समय सुनेगा बात मेरी व्यथा की।
तब अवगत होगा बालिका एक भू मे।
विचलित कितनी है प्रेम से वंचिता हो ॥६३॥

अलि यदि मन दे के भी नहीं तू सुनेगा।
निज दुख तुझसे मैं आज तो भी कहूँगी।
कुछ कह उनसे, है चित्त मे मोद होता।
क्षिति पर जिनकी है श्यामली-मूर्त्ति पाती ॥६४॥

इस क्षिति - तल मे क्या व्योम के अंक मे भी।
प्रिय वपु छवि शोभी मेघ जो घूमते है।
इक टक पहरो मै तो उन्हे देखती हूँ।
कह निज मुख द्वारा बात क्या - क्या न जानें ॥६५॥

मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति - अनुपम जैसी श्याम के गात की है।
पर जब - जब आँखें देख लेती तुझे हैं।
तब - तब सुधि आती श्यामली - मूर्ति की है ॥६६॥

तव तन पर जैसी पीत - आभा लसी है।
प्रियतम कटि मे है सोहता वस्त्र वैसा।
गुन - गुन करना औ गूँजना देख तेरा।
रस - मय - मुरली का नाद है याद आता ॥६७॥

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व मे था।
तब स्मृति रचने मे कौन सी चातुरी थी।
यदि स्मृति विरचा तो क्यो उसे है बनाया।
वपन - पटु कु - पीड़ा बीज प्राणी - उरो में ॥६८॥

अलि पड़ कर हाथो मे इसी प्रेम के ही।
लघु - गुरु कितनी तू यातना भोगता है।
विधि - वश बँधता है कोष मे पंकजो के।
बहु - दुख सहता है विद्ध हो कंटको से ॥६९॥

पर नित जितनी मैं वेदना पा रही हूँ।
अति लघु उससे है यातना भृङ्ग तेरी।
मम - दुख यदि तेरे गात की श्यामता है।
तव दुख उसकी ही पीतता तुल्य तो है ॥७०॥

वह बुध कहते हैं पुष्प के रूप द्वारा।
अपहृत चित होता है अनायास तेरा।
कतिपय - मति - शाली हेतु आसक्तता का।
अनुपम - मधु किम्वा गंध को है बताते ॥७१॥

यदि इन विषयों को रूप गंधादिकों को।
मधुकर हम तेरे मोह का हेतु मानें।
यह अवगत होना चाहिये भृङ्ग तो भी।
दुख - प्रद तुझको, तो तीन ही इन्द्रियाँ हैं ॥७२॥

पर मुझ अबला की वेदना - दायिनी हा!
समधिक गुण - वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।
तदुपरि कितनी है मानवी - वंचनायें।
विचलित - कर होंगी क्यों न मेरी व्यथायें ॥७३॥

जब हम व्यथिता हैं ईदृशी तो तुझे क्या।
कुछ सदय न होना चाहिये श्याम - बन्धो।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर हो के दृगों से।
मत निठुर बने तू सामने लोचनों के ॥७४॥

नव - नव - कुसुमों के पास जा मुग्ध हो - हो।
गुन - गुन करता है चाव में बैठता है।
पर कुछ सुनता है तू न मेरी व्यथायें।
मधुकर इतना क्यों हो गया निर्दयी है ॥७५॥

कब टल सकता था श्याम के टालने से।
मुख पर मँडलाता था स्वयं मत्त हो के।
यक दिन वह था औ एक है आज का भी।
जब भ्रमर न मेरी ओर तू ताकता है ॥७६॥

कब पर-दुख कोई है कभी बाँट लेता।
सब परिचय-वाले प्यार ही है दिखाते।
अहह न इतना भी हो सका तो कहूँगी।
मधुकर यह सारा दोष है श्यामता का ॥७७॥

द्रुतविलम्बित छन्द

कमल-लोचन क्या कल आ गये।
पलट क्या कु-कपाल-क्रिया गई।
मुरलिका फिर क्यो वन मे बजी।
बन रसा तरसा बरसा सुधा ॥७८॥

किस तपोबल से किस काल मे।
सच बता मुरली कल-नादिनी।
अवनि मे तुझको इतनी मिली।
मदिरता, मृदुता, मधुमानता ॥७९॥

चकित है किसको करती नही।
अवनि को करती अनुरक्त है।
विलसती तव सुन्दर अंक मे।
सरसता, शुचिता, रुचिकारिता ॥८०॥

निरख व्यापकता प्रतिपत्ति की।
कथन क्यो न करूँ अयि वंशिके।
निहित है तव मोहक पोर में।
सफलता, कलता, अनुकूलता ॥८१॥

मुरलिके कह क्यों तव-नाद से।
विकल हैं बनती ब्रज-गोपिका।
किस लिये कल पा सकती नहीं।
पुलकती, हँसती, मृदु बोलती ॥८२॥

स्वर फुँका तव है किस मंत्र से।
सुन जिसे परमाकुल मत्त हो।
सदन है तजती ब्रज-बालिका।
उमगती, ठगती, अनुरागती ॥८३॥

तव प्रवंचित है बन छानती।
विवश सी नवला ब्रज-कामिनी।
युग विलोचन से जल मोचती।
ललकती, कँपती, अवलोकती ॥८४॥

यदि बजी फिर, तो बज ऐ प्रिये।
अपर है तुझ सी न मनोहरा।
पर कृपा कर के कर दूर तू।
कुटिलता, कटुता, मदशालिता ॥८५॥

विपुल छिद्र-वती बन के तुझे।
यदि समादर का अनुराग है।
तज न तो अयि गौरव-शालिनी।
सरलता, शुचिता, कुल-शीलता ॥८६॥

लसित है कर में ब्रज-देव के।
मुरलिके तप के बल आज तू।
इस लिये अबलाजन को वृथा।
मत सता, न जता मति-हीनता ॥८७॥

वंशस्थ छन्द

मदीय प्यारी अयि कुंज-कोकिला।
मुझे बता तू ढिग कूक क्यों उठी।
विलोक मेरी चित-भ्रान्ति क्या बनी।
विषादिता, संकुचिता, निपीड़िता ॥८८॥

प्रवंचना है यह पुष्प कुंज की।
भला नहीं तो ब्रज - मध्य श्याम की।
कभी बजेगी अब क्यो सु - बाँसुरी।
सुधाभरी, मुग्धकरी, रसोदरी ।।८९।।

विषादिता तू यदि कोकिला बनी।
विलोक मेरी गति तो कहीं न जा।
समीप बैठी सुन गूढ़ - वेदना।
कुसंगजा, मानसजा, मदंगजा ।।९०।।

यथैव हो पालित काक - अंक मे।
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय है।
तथैव माधो यदु - वंश मे मिले।
अशोभना, खिन्न मना मुझे बना ।।९१।।

तथापि होती उतनी न वेदना।
न श्याम को जो ब्रज - भूमि भूलती।
नितान्त ही है दुखदा, कपाल की।
कुशीलता, आविलता, करालता ।।९२।।

कभी न होगी मथुरा - प्रवासिनी।
गरीबिनी गोकुल - ग्राम - गोपिका।
भला करे लेकर राज - भोग क्या।
यथोचिता, श्यामरता, विमोहिता।।९३।।

जहाँ न वृन्दावन है विराजता।
जहाँ नही है ब्रज - भू मनोहरा।
न स्वर्ग है वांछित, है जहाँ नही।
प्रवाहिता भानु - सुता प्रफुल्लिता ।।९४।।

करील है कामद कल्प-वृक्ष से।
गवादि हैं काम-दुधा गरीयसी।
सुरेश क्या है जब नेत्र में रमा।
महामना, श्यामघना लुभावना॥९५॥

जहाँ न वंशी-वट है न कुंज है।
जहाँ न केकी-पिक है न शारिका।
न चाह वैकुण्ठ रखे, न है जहाँ।
बड़ी भली, गोप-लली, समाअली॥९६॥

न कामुका हैं हम राज-वेश की।
न नाम प्यारा यदु-नाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की।
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी॥९७॥

विरक्ति बातें सुन वेदना-भरी।
पिकी हुई तू दुखिता नितान्त ही।
बना रहा है तव बोलना मुझे।
व्यथामयी, दाहमयी, द्विधामयी॥९८॥

नहीं-नहीं है मुझको बता रही।
नितान्त तेरे स्वर की अधीरता।
वियोग से है प्रिय के तुझे मिली।
अवांछिता, कातरता, मलीनता॥९९॥

अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा।
सुना स्व-वेधी-स्वर जीवितेश को।
अभिज्ञ वे हों जिससे वियोग की।
कठोरता, व्यापकता, गंभीरता॥१००॥

परन्तु तू तो अब भी उड़ी नहीं।
प्रिये पिकी क्या मथुरा न जायगी ?
न जा, वहाँ है न पधारना भला।
उलाहना है सुनना जहाँ मना ॥१०१॥

वसंततिलका छन्द

पा के तुझे परम-पूत-पदार्थ पाया।
आई प्रभा प्रवह मान दुखी दृगों में।
होती विवर्द्धित घटीं उर-वेदनायें।
ऐ पद्म-तुल्य पद-पावन चिह्न प्यारा ॥१०२॥

कैसे वहे न दृग से नित वारि-धारा।
कैसे विदग्ध दुख से बहुधा न होऊँ।
तू भी मिला न मुझको ब्रज में कहीं था।
कैसे प्रमोद अ-प्रमोदित प्राण पावें ॥१०३॥

माथे चढ़ा मुदित हो उर में लगाऊँ।
है चित्त चाह सु-विभूति उसे बनाऊँ।
तेरी पुनीत रज ले कर के करूँ मैं।
सानन्द अंजित सुरंजित-लोचनों में ॥१०४॥

लाली ललाम मृदुता अवलोकनीया।
तीसी-प्रसून-सम श्यामलता सलोनी।
कैसे पदांक तुझको पद सी मिलेगी।
तो भी विमुग्ध करती तव माधुरी है ॥१०५॥

संयोग से पृथक हो पद-कंज से तू।
जैसे अचेत अवनी-तल में पड़ा है।
त्योंही मुकुन्द-पद-पंकज से जुदा हो।
मैं भी अचिन्तित-अचेतनतामयी हूँ ॥१०६॥

होती विदूर कुछ व्यापकता दुखों की।
पाती अलौकिक - पदार्थ वसुंधरा मे।
होता स - शान्ति मम जीवन शेष भूत।
लेती पदांक तुझको यदि अंक मे मै ॥१०७॥

हूँ मै अतीव - रुचि से तुझको उठाती।
प्यारे पदांक अब तू मम - अंक मे आ।
हा! दैव क्या यह हुआ? उह! क्या करूँ मै।
कैसे हुआ प्रिय, पदांक विलोप भू मे ॥१०८॥

क्या है कलंकित बने युग - हस्त मेरे।
क्या छू पदांक सकता इनको नहीं था।
ए है अवश्य अति - निद्य महा - कलंकी।
जो है प्रवचित हुए पद - अर्चना से ॥१०९॥

मै भी नितान्त जड़ हूँ यदि हाय! मैने।
अत्यन्त भ्रान्त बन के इतना न जाना।
जो हो विदेह वन मध्य कहीं पड़े है।
वे है किसी अपर के कब हाथ आते ॥११०॥

पादांक पूत अयि धूलि प्रशंसनीया।
मै बॉधती सरुचि अंचल मे तुझे हूँ।
होगी मुझे सतत तू बहु शान्ति-दाता।
देगी प्रकाश तम मे फिरते दृगों को ॥१११॥

मालिनी छन्द

कुछ कथन करूँगी मै स्वकीया व्यथाये।
बन सदय सुनेगी क्या नहीं स्नेह द्वारा।
प्रति - पल बहती ही क्या चली जायगी तू।
कल - कल करती ऐ अर्कजा केलि शीला ॥११२॥

कल - मुरलि - निनादी लोभनीयांग - शोभी।
अलि - कुल - मति - लोपी कुन्तली कांति - शाली।
अयि पुलकित अंके आज भी क्यो न आया।
वह कलित - कपोलो कान्त आलापवाला ॥११३॥

अब अप्रिय हुआ है क्यो उसे गेह आना।
प्रति - दिन जिसकी ही ओर आँखें लगी है।
पल - पल जिस प्यारे के लिये हूँ बिछाती।
पुलकित - पलकों के पाँवड़े प्यार - द्वारा ॥११४॥

मम उर जिसके ही हेतु है मोम जैसा।
निज उर वह क्यो है संग जैसा बनाता।
विलसित जिसमे है चारु - चिन्ता उसीकी।
वह उस चित की है चेतना क्यों चुराता ॥११५॥

जिस पर निज प्राणों को दिया वार मैने।
वह प्रियतम कैसे हो गया निर्दयी है।
जिस कुँवर बिना है याम होते युगो से।
वह छवि दिखलाता क्यो नही लोचनों को ॥११६॥

सब तज हमने है एक पाया जिसे ही।
अयि अलि! उसने है क्या हमे त्याग पाया।
हम मुख जिसका ही सर्वदा देखती है।
वह प्रिय न हमारी ओर क्यो ताक पाया ॥११७॥

विलसित उर मे है जो सदा देवता सा।
वह निज उर में है ठौर भी क्यो न देता।
नित वह कलपाता है मुझे कान्त हो क्यो।
जिस बिन 'कल, पाते हैं नही प्राण मेरे ॥११८॥

मम दृग जिसके ही रूप मे है रमे से।
अहह वह उन्हे है निर्ममो सा रुलाता।
यह मन जिनके ही प्रेम मे मग्न सा है।
वह मद उसको क्यो मोह का है पिलाता ॥११९॥

जब अब अपने ए अंग ही है न आली।
तब प्रियतम मे मै क्या करूँ तर्कनाये।
जब निज तन का ही भेद मै हूँ न पाती।
तब कुछ कहना ही कान्त को अज्ञता है ॥१२०॥

दृग अति अनुरागी श्यामली - मूर्त्ति के है।
युग श्रुति सुनना है चाहते चारु - ताने।
प्रियतम मिलने की चौगुनी लालसा से।
प्रति - पल अधिकाती चित्त की आतुरी है ॥१२१॥

उर विदलित होता मत्तता वृद्धि पाती।
वहु विलख न जो मैं यामिनी - मध्य रोती।
विरह - दव सताता, गात सारा जलाता।
यदि मम नयनों मे वारि - धारा न होती ॥१२२॥

कब तक मन मारूँ दग्ध हो जी जलाऊँ।
निज - मृदुल-कलेजे मे शिला क्यो लगाऊँ।
वन - वन विलपूँ या मै धँसूँ मेदिनी मे।
निज - प्रियतम प्यारी मूर्त्ति क्यों देख पाऊँ ॥१२३॥

तव तट पर आ के नित्य ही कान्त मेरे।
पुलकित बन भावो मे पगे घूमते है।
यक दिन उनको पा प्रीत जी से सुनाना।
कल - कल - ध्वनि - द्वारा सर्व मेरी व्यथाये ॥१२४॥

विधि - वश यदि तेरी धार मे आ गिरूँ मै ।
मम तन ब्रज की ही मेदिनी मे मिलाना ।
उस पर अनुकूला हो, बड़ी मंजुता से ।
कल - कुसुम अनूठी - श्यामता के उगाना ।।१२५।।

घन - तन - रत मै हूँ तू असेतांगिनी है ।
तरलित - उर तू है चैन मै हूँ न पाती ।
अयि अलि बन जा तू शान्ति - दाता हमारी ।
अति - प्रतपित मै हूँ ताप तू है भगाती ।।१२६।।

मन्दाक्रान्ता छन्द

रोई आ के कुसुम - ढिग औ भृङ्ग के साथ बोली ।
वंशी - द्वारा - भ्रमित बन के बात की कोकिला से ।
देखा प्यारे कमल - पग के अंक को उन्मना हो ।
पीछे आयी तरणि - तनया - तीर उत्कण्ठिता सी ।।१२७।

द्रुतविलम्बित छन्द

तदुपरान्त गई गृह - बालिका ।
व्यथित ऊधव को अति ही बना ।
सब सुना सब ठौर छिपे गये ।
पर न बोल सके वह अल्प भी ।।१२८।।

षोड़श सर्ग

वंशस्थ छन्द

विमुग्ध - कारी मधु मंजु मास था।
वसुंधरा थी कमनीयता - मयी।
विचित्रता - साथ विराजिता रही।
वसंत - वासंतिकता वनान्त में ॥१॥

नवीन भूता वन की विभूति में।
विनोदिता - वेलि विहंग - वृन्द में।
अनूपता व्यापित थी वसंत
निकुज में कूजित - कुंज - पुंज

प्रफुल्लिता कोमल
मनोज्ञता - मूर्त्ति
वनस्थली थी
अकीलिता को

निसर्ग ने, सौरभ
प्रदान की थी अति
वसुंधरा को,
मनोज्ञता,

वसंत की भाव - भरी विभूति सी।
मनोज की मंजुल - पीठिका - समा।
लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी।
कुमोदिनी - मानस - मोदिनी कहीं ॥५॥

नवांकुरो मे कलिका - कलाप मे।
नितान्त न्यारे फल पत्र - पुंज मे।
निसर्ग - द्वारा सु प्रसूत - पुष्प में।
प्रभूत पुंजी - कृत थी प्रफुल्लता ॥ ६ ॥

विमुग्धता की वर - रंग - भूमि सी।
प्रलुब्धता केलि वसुंधरोपमा।
मनोहरा थीं तरु - वृन्द - डालियाँ।
नई कली मंजुल - मंजरीमयी ॥७॥

अन्यूनता दिव्य फलादि की, दिखा।
महत्व औ गौरव, सत्य - त्याग का।
विचित्रता से करती प्रकाश थी।
स - पत्रता पादप पत्र - हीन की ॥८॥

वसंत - माधुर्य्य - विकाश - वर्द्धिनी।
क्रिया - मयी मार - महोत्सवांकिता।
सु - कोपले थी तरु - अंक मे लसी।
स - अंगरागा अनुराग - रंजिता ॥९॥

नये - नये पल्लववान पेड़ मे।
प्रसून मे आगत थी अपूर्वता।
वसंत मे थी अधिकांश शोभिता।
विकाशिता - वेलि प्रफुल्लिता - लता ॥१०॥

अनार मे औ कचनार मे वसी।
ललामता थी अति ही लुभावनी।
बड़े लसे लोहित - रंग - पुष्प से।
पलाश की थी अपलाशता ढकी ॥११॥

स - सौरभा लोचन की प्रसादिका।
वसंत - वासंतिकता - विभूषिता।
विनोदिता हो बहु थी विनोदिनी।
प्रिया - समा मंजु - प्रियाल - मंजरी ॥१२॥

दिशा प्रसन्ना महि पुष्प - संकुला।
नवीनता - पूरित पादपावली।
वसंत मे थी लतिका सु - यौवना।
अलापिका पंचम - तान कोकिला ॥१३॥

अपूर्व - स्वर्गीय - सुगंध मे सना।
सुधा बहाता धमनी - समूह मे।
समीर आता मलयाचलांक से।
किसे बनाता न विनोद - मग्न था ॥१४॥

प्रसादिनी - पुष्प सुगंध - वर्द्धिनी।
विकाशिनी वेलि लता विनोदिनी।
अलौकिकी थी मलयानिली क्रिया।
विमोहिनी पादप पंक्ति - मोदिनी ॥१५॥

वसंत - शोभा प्रतिकूल थी बड़ी।
वियोग - मग्ना व्रज - भूमि के लिये।
बना रही थी उसको व्यथामयी।
विकाश पाती वन - पादपावली ॥१६॥

दृगों उरों को दहती अतीव थी।
शिखाग्नि-तुल्या तरु-पुंज-कोपलें।
अनार-शाखा कचनार-डाल थी।
अपार अंगारक पुंज-पूरिता ॥१७॥

नितान्त ही थी प्रतिकूलता-मयी।
प्रियाल की प्रीति-निकेत-मंजरी।
बना अतीवाकुल म्लान चित्त को।
विदारता था तरु कोविदार का ॥१८॥

भयंकरी व्याकुलता-विकासिका।
सशंकता-मूर्त्ति प्रमोद-नाशिनी।
अतीव थी रक्तमयी अशोभना।
पलाश की पंक्ति पलाशिनी समा ॥१९॥

इतस्तत. भ्रान्त-समान घूमती।
प्रतीत होती अवली मिलिन्द की।
विदूषिता हो कर थी कलंकिता।
अलंकृता कोकिल कान्त कंठता ॥२०॥

प्रसून की मोहकता मनोज्ञता।
नितान्त थी अन्यमनस्कतामयी।
न वांछिता थी न विनोदनीय थी।
अ-मानिता हो मलयानिल-क्रिया ॥२१॥

बड़े यशस्वी वृष-भानु गेह के।
समीप थी एक विचित्र वाटिका।
प्रबुद्ध-ऊधो इसमें इन्हीं दिनों।
प्रबोध देने ब्रज-देवि को गये ॥२२॥

वसंत को पा यह शान्त वाटिका।
स्वभावतः कान्त नितान्त थी हुई।
परन्तु होती उसमे स - शान्ति थी।
विकाश की कौशल - कारिणी - क्रिया ॥२३॥

शनै. शनै. पादप पुज कोपले।
विकाश पा के करती प्रदान थी।
स - आतुरी रक्तिमता - विभूति को।
प्रमोदनीया - कमनीय - श्यामता ॥२४॥

अनेक आकार - प्रकार से मनो।
वता रही थीं यह गूढ़ - मर्म्म वे।
नहीं रॅगेगा वह श्याम - रंग मे।
न आदि मे जो अनुराग में रॅगा ॥२५॥

प्रसून थे भाव - समेत फूलते।
लुभावने श्यामल पत्र अंक मे।
सुगंध को पूत वना दिगन्त मे।
पसारती थी पवनातिपावनी ॥२६॥

प्रफुल्लता मे अति - गूढ़ - म्लानता।
मिली हुई साथ पुनीत - शान्ति के।
सु - व्यंजिता संयत भाव संग थी।
प्रफुल्ल - पाथोज प्रसून - पुज मे ॥२७॥

स - शान्ति आते उड़ते निकुंज मे।
स - शान्ति जाते ढिग थे प्रसून के।
वने महा - नीरव, शान्त, संयमी।
स - शान्ति पीते मधु को मिलिन्द थे ॥२८॥

विनोद से पादप पै विराजना।
विहंगिनी साथ विलास बोलना।
बँधा हुआ संयम - सूत्र साथ था।
कलोलकारी खग का कलोलना ॥२९॥

न प्रायशः आनन त्यागती रही।
न थी बनाती ध्वनिता दिगन्त को।
न बाग में पा सकती विकाश थी।
अ - कुंठिता हो कल - कंठ - काकली ॥३०॥

इसी तपोभूमि - समान वाटिका -
सु - अंक में सुन्दर एक कुंज थी।
समावृता श्यामल - पुष्प - संकुला।
अनेकशः वेलि - लता - समूह से ॥३१॥

विराजती थीं वृष - भानु - नन्दिनी।
इसी बड़े नीरव शान्त - कुंज में।
अतः यहीं श्रीबलवीर - बन्धु ने।
उन्हें विलोका अलि - वृन्द आवृता ॥३२॥

प्रशान्त, म्लाना, वृषभानु - कन्यका -
सु - मूर्त्ति देवी सम दिव्यतामयी।
विलोक, हो भावित भक्ति - भाव से।
विचित्र ऊधो - उर की दशा हुई ॥३३॥

अतीव थी कोमल - कान्ति नेत्र की।
परन्तु थी शान्ति विषाद - अंकिता।
विचित्र - मुद्रा मुख - पद्म की मिली।
प्रफुल्लता - आकुलता - समन्विता ॥३४॥

स - प्रीति वे आदर के लिये उठीं।
विलोक आया व्रज - देव - बन्धु को।
पुनः उन्होंने निज - शान्त - कुंज में।
उन्हें बिठाया अति - भक्ति - भाव से॥३५॥

अतीव - सम्मान समेत आदि में।
व्रजेश्वरी की कुशलादि पूछ के।
पुनः सुधी - ऊधव ने स - नम्रता।
कहा सँदेसा यह श्याम - मूर्त्ति का॥३६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

प्राणाधारे परम - सरले प्रेम की मूर्त्ति राधे।
निर्माता ने पृथक तुमसे यों किया क्यों मुझे है।
प्यारी आशा प्रिय - मिलन की नित्य है दूर होती।
कैसे ऐसे कठिन - पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ॥३७॥

जो दो प्यारे हृदय मिल के एक ही हो गये हैं।
क्यों धाता ने विलग उनके गात को यों किया है।
कैसे आ के गुरु - गिरि पड़े बीच में हैं उन्हींके।
जो दो प्रेमी मिलित पय औ नीर से नित्यशः थे॥३८॥

उत्कण्ठा के विवश नभ को, भूमि को, पादपों को।
ताराओं को, मनुज - मुख को प्रायशः देखता हूँ।
प्यारी! ऐसी न ध्वनि मुझको है कहीं भी सुनाती।
जो चिन्ता से चलित - चित की शान्ति का हेतु होवे॥३९॥

जाना जाता मरम विधि के बंधनों का नहीं है।
तो भी होगा उचित चित में यों प्रिये सोच लेना।
होते जाते विफल यदि हैं सर्व - संयोग सूत्र।
तो होवेगा निहित इसमें श्रेय का बीज कोई॥४०॥

है प्यारी औ मधुर सुख औ भोग की लालसायें।
कान्ते, लिप्सा जगत - हित कीं और भी है मनोज्ञा।
इच्छा आत्मा परम - हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म - उत्सर्ग की है ॥४१॥

जो होता है निरत तप मे मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते है उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत - हित औ लोक - सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि - तल मे आत्मत्यागी वही है ॥४२॥

जो पृथ्वी के विपुल - सुख की माधुरी है विपाशा
प्राणी - सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जन्हुजा है
जो आद्या है नखत द्युति सी व्याप जाती उरो मे।
तो होती है लसित उसमे कौमुदी सी द्वितीया ॥४३॥

भोगो मे भी विविध कितनी रंजिनी - शक्तियाँ है।
वे तो भी हैं जगत - हित से मुग्धकारी न होते।
सच्ची यो है कलुप उनमे है बड़े क्लान्ति - कारी।
पाई जाती लसित इसमें शान्ति लोकोत्तरा है ॥४४॥

है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी स - रुचि इसकी माधुरी मे बँधे हैं।
जो होता है न वश इसके आत्म - उत्सर्ग - द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी - मध्य आना उसीका ॥४५॥

जो है भावी परम - प्रबला दैव - इच्छा प्रधाना।
तो होवेगा उचित न, दुखी वांछितो हेतु होना।
श्रेय:कारी सतत दयिते सात्विकी - कार्य्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत भव मे सर्व - भूतोपकारी ॥४६॥

वंशस्थ छन्द

अतीव हो अन्यमना विषादिता।
विमोचते वारि दृगारविन्द से।
समस्त सन्देश सुना व्रजेश का।
व्रजेश्वरी ने उर वज्र सा बना ॥४७॥

पुनः उन्होंने अति शान्त - भाव से।
कभी बहा अश्रु कभी स - धीरता।
कहीं स्व - बातें बलवीर - बंधु से।
दिखा कलत्रोचित - चित्त - उच्चता ॥४८॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

मैं हूँ ऊधो पुलकित हुई आपको आज पा के।
सन्देशों को श्रवण कर के और भी मोदिता हूँ।
मंदीभूता, उर - तिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान आभा।
उद्दीप्ता हो उचित - गति से उज्ज्वला हो रही है ॥४९॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पृथिवी - रत्न औ शान्त धी हैं।
सन्देशों में तदपि उनकी, वेदना, व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ, तरल - उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त, वैचित्र्य क्या है ॥५०॥

हो जाती है रजनि मलिना ज्यों कला - नाथ डूबे।
वाटी शोभा रहित बनती ज्यों वसन्तान्त में है।
त्योंही प्यारे विधु - वदन की कान्ति से वंचिता हो।
श्री - हीना और मलिन व्रज की मेदिनी हो गई है ॥५१॥

जैसे प्रायः लहर उठती वारि में वायु से है।
त्योंही होता चित चलित है कश्चिदावेग - द्वारा।
उद्वेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है।
हाँ, ज्ञानी औ विबुध - जन में मुह्यता है न होती ॥५२॥

पूरा - पूरा परम - प्रिय का मर्म्म मै बूझती हूँ।
है जो वांछा विशद उर मे जानती भी उसे हूँ।
यत्नो द्वारा प्रति - दिन अतः मै महा संयता हूँ।
तो भी देती विरह - जनिता - वासनाये व्यथा है ॥५३॥

जो मै कोई विहग उड़ता देखती व्योम मे हूँ।
तो उत्कण्ठा - विवश चित मे आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे अबल तन मे पत्त जो पत्तियो से।
तो यों ही मै स - मुद उड़ती श्याम के पास जाती ॥५४॥

जो उत्कण्ठा अधिक प्रवला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त मे कल्पना की।
जो हो जाती पवन, गति पा वांछिता लोक - प्यारी।
मै छू आती परम - प्रिय के मंजु - पादाम्बुजो को ॥५५॥

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत - हित की आज भी है न होती।
जैसी जी मे लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥५६॥

हो जाता है उदित उर मे मोह जो रूप - द्वारा।
व्यापी भू मे अधिक जिसकी मंजु - कार्य्यावली है।
जो प्रायः है प्रसव करता मुग्धता मानसो मे।
जो है क्रीड़ा अवनि चित की भ्रान्ति उद्विग्नता का ॥५७॥

जाता है पंच - शर जिसकी 'कल्पिता - मूर्त्ति' माना।
जो पुष्पो के विशिख - बल से विश्व को वेधता है।
भाव - ग्राही मधुर - महती चित्त - विक्षेप - शीला।
न्यारी - लीला सकल जिसकी मानसोन्मादिनी है ॥५८॥

वैचित्र्यो से वलित उसमे ईदृशी शक्तियॉ है।
ज्ञाताओ ने प्रणय उसको है बताया न तो भी।
है दोनो से सबल बनती भूरि - आसंग - लिप्सा।
होती है किन्तु प्रणयज ही स्थायिनी औ प्रधाना ।।५९।।

जैसे पानी प्रणय तृषितो की तृषा है न होती।
हो पाती है न क्षुधित - क्षुधा अन्न - आसक्ति जैसे।
वैसे ही रूप निलय नरो मोहनी - मूर्त्तियो मे।
हो पाता है न 'प्रणय' हुआ मोह रूपादि - द्वारा ।।६०।।

मूली - भूता इस प्रणय की वुद्धि की वृत्तियॉ है।
हो जाती है समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणो से।
वे होते है नित नव, तथा दिव्यता - धाम, स्थायी।
पाई जाती प्रणय - पथ मे स्थायिता है इसीसे ।।६१।।

हो पाता है विकृत स्थिरता - हीन है रूप होता।
पाई जाती नहि इस लिये मोह मे स्थायिता है।
होता है रूप विकसित भी प्रायश एक ही सा।
हो जाता है प्रशमित अतः मोह संभोग से भी ।।६२।।

नाना स्वार्थों सरस - सुख की वासना - मध्य डूबा।
आवेगो से वलित ममतावान है मोह होता।
निष्कामी है प्रणय - शुचिता - मूर्त्ति है सात्विकी है।
होती पूरी प्रमिति उसमे आत्म - उत्सर्ग की है ।।६३।।

सद्य होती फलित, चित्त मे मोह की मत्तता है।
धीरे - धीरे प्रणय बसता, व्यापता है उरो मे।
हो जाती है विवश अपरा - वृत्तियॉ मोह - द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता चित्त सद्वृत्ति को है ।।६४।।

आ जाते है उदय कितने भाव ऐसे उरो मे।
होती है मोह - वश जिनमे प्रेम की भ्रान्ति प्राय:।
वे होते है न प्रणय न वे है समीचीन होते।
पाई जाती अधिक उनमे मोह की वासना है ॥६५॥

हो के उत्कण्ठ प्रिय - सुख की भूयसी - लालसा से।
जो है प्राणी हृदय - तल की वृत्ति उत्सर्ग - शीला।
पुण्याकांक्षा सुयश - रुचि वा धर्म - लिप्सा बिना ही।
ज्ञाताओं ने प्रणय अभिधा दान की है उसीको ॥६६॥

आदौ होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति - द्वारा।
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग - लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है।
पीछे खो आत्म - सुधि लसती आत्म - उत्सर्गता है ॥६७॥

सद्गंधो से, मधुर - स्वर से, स्पर्श से औ रसो से।
जो है प्राणी हृदय - तल मे मोह उद्भूत होते।
वे ग्राही है जन - हृदय के रूप के मोह ही से।
हो पाते है तदपि उतने मत्तकारी नहीं वे ॥६८॥

व्यापी भी है अधिक उनसे रूप का मोह होता।
पाया जाता प्रबल उसका चित्त - चाञ्चल्य भी है।
मानी जाती न क्षिति - तल मे है पतंगोपमाना।
भृङ्गो, मीनो, द्विरद मृग की मत्तता प्रीतिमत्ता ॥६९॥

मोहो मे है प्रबल सबसे रूप का मोह होता।
कैसे होगे अपर, वह जो प्रेम है हो न पाता।
जो है प्यारा प्रणय - मणि सा कॉच सा मोह तो है।
ऊॅची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है ॥७०॥

दोनो आँखे निरख जिसको तृप्त होती नही है।
ज्यो-ज्यो देखे अधिक जिसकी दीखती मजुता है।
जो है लीला - निलय महि मे वस्तु स्वर्गीय जो है।
ऐसा राका - उदित - विधु सा रूप उल्लासकारी ॥७१॥

उत्कण्ठा से बहु सुन जिसे मत्त सा बार लाखो।
कानो की है न तिल भर भी दूर होती पिपासा।
हृत्तन्त्री मे ध्वनित करता स्वर्ग - संगीत जो है।
ऐसा न्यारा - स्वर उर - जयी विश्व - व्यामोहकारी ॥७२॥

होता है मूल अग जग के सर्वरूपो - स्वरो का।
या होती है मिलित उसमे मुग्धता सद्गुणों की।
ए बाते ही विहित - विधि के साथ है व्यक्त होती।
न्यारे गंधो सरस - रस, औ स्पर्श - वैचित्र्य मे भी ॥७३॥

पूरी - पूरी कुँवर - वर के रूप मे है महत्ता।
मंत्रो से हो मुखर, मुरली दिव्यता से भरी है।
सारे न्यारे प्रमुख - गुण की सात्विकी मूर्त्ति वे है।
कैसे व्यापी प्रणय उनका अन्तरो मे न होगा ॥७४॥

जो आसक्ता व्रज - अवनि मे बालिकायें कई है।
वे सारी ही प्रणय - रँग से श्याम के रञ्जिता है।
मैं मानूँगी अधिक उनमे है महा - मोह - मग्ना।
तो भी प्राय प्रणय - पथ की पंथिनी ही सभी है ॥७५॥

मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूल दूँ क्यो।
काढ़ूँ कैसे हृदय - तल से श्यामली - मूर्त्ति न्यारी।
जीते जी जो न मन सकता भूल है मंजु - ताने।
तो क्यो होगी शमित प्रिय के लाभ की लालसाये ॥७६॥

ए आँखे है जिधर फिरती चाहती श्याम को है।
कानो को भी मधुर - रव की आज भी लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय - तल को पैठ के जो विलोके।
तो पावेगा लसित उसमे कान्ति - प्यारी उन्हींकी ॥७७॥

जो होता है उदित नभ मे कौमुदी कांत आ के।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
शोभा - वाले हरित दल के पादपो को विलोके।
है प्यारे का विकच - मुखड़ा आज भी याद आता ॥७८॥

कालिन्दी के पुलिन पर जा, या, सजीले - सरों मे।
जो मै फूले - कमल - कुल को मुग्ध हो देखती हूँ।
तो प्यारे के कलित - कर की औ अनूठे - पगो की।
छा जाती है सरस - सुषमा वारि स्रावी - दृगो मे ॥७९॥

ताराओ से खचित - नभ को देखती जा कभी हूँ।
या मेघों मे मुदित - वक की पंक्तियाँ दीखती है।
तो जाती हूँ उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानो मुक्ता - लसित - उर है श्याम का दृष्टि आता ॥८०॥

छू देती है मृदु - पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस सुधि है श्याम - प्यारे - करो की।
ले पुष्पो की सुरभि वह जो कुंज मे डोलती है।
तो गंधो से बलित मुख की वास है याद आती ॥८१॥

ऊँचे - ऊँचे शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम दृढ़ता मेरु आगे दृगो के।
नाना - क्रीड़ा - निलय - झरना चारु - छींटे उड़ाता।
उल्लासो को कुँवर - वर के चक्षु मे है लसाता ॥८२॥

कालिन्दी एक प्रियतम के गात की श्यामता ही।
मेरे प्यासे दृग - युगल के सामने है न लाती।
प्यारी लीला सकल अपने कूल की मंजुता से।
सद्भावो के सहित चित मे सर्वदा है लसाती ॥८३॥

फूली संध्या परम - प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मै पाती हूँ रजनि - तन मे श्याम का रङ्ग छाया।
ऊषा आती प्रति - दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर - वदन सा ओप आदित्य में है ॥८४॥

मै पाती हूँ अलक - सुषमा भृङ्ग की मालिका मे।
है आँखो की सु - छवि मिलती खंजनो औ मृगो मे।
दोनो बॉहे कलभ कर को देख है याद आती।
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की ॥८५॥

है दॉतो की झलक मुझको दीखती दाड़िमो मे।
विम्बाओ मे वर अधर सी राजती लालिमा है।
मै केलो मे जघन - युग की मंजुता देखती हूँ।
गुल्फो की सी ललित सुषमा है गुलो मे दिखाती ॥८६॥

नेत्रोन्मादी बहु - मुदमयी - नीलिमा गात की सी।
न्यारे नीले गगन - तल के अङ्क मे राजती है।
भू मे शोभा, सुरस जल मे, वन्हि मे दिव्य - आभा।
मेरे प्यारे - कुँवर वर सी प्रायशः है दिखाती ॥८७॥

सायं - प्रात. सरस - स्वर से कूजते है पखेरू।
प्यारी - प्यारी मधुर - ध्वनियॉ मत्त हो, है सुनाते।
मै पाती हूँ मधुर ध्वनि मे कूजने मे खगो के।
मीठी - ताने परम - प्रिय की मोहिनी - वंशिका की ॥८८॥

मेरी बाते श्रवण कर के आप उद्विग्न होंगे।
जानेंगे मैं विवश बन के हूँ महा - मोह - मग्ना।
सच्ची यो है न निज - सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ।
संज्ञा में प्रणय - पथ के भावतः हूँ सयत्ना ॥८९॥

हो जाती है विधि - सृजन से इक्षु मे माधुरी जो।
आ जाता है सरस रँग जो पुष्प की पंखड़ी में।
क्यो होगा सो रहित रहते इक्षुता - पुष्पता के।
ऐसे ही क्यो प्रसृत उर से जीवनाधार होगा ॥९०॥

क्यो मोहेंगे न दृग लख के मूर्त्तियाँ रूपवाली।
कानो को भी मधुर - स्वर से मुग्धता क्यो न होगी।
क्यो डूबेंगे न उर रँग मे प्रीति - आरंजितो के।
धाता - द्वारा सृजित तन में तो इसी हेतु वे है ॥९१॥

छाया - ग्राही मुकुर यदि हो वारि हो चित्र क्या है।
जो वे छाया ग्रहण न करे चित्रता तो यही है।
वैसे ही नेत्र, श्रुति, उर मे जो न रूपादि व्यापे।
तो विज्ञानी - विबुध उनको स्वस्थ कैसे कहेंगे ॥९२॥

पाई जाती श्रवण करने आदि मे भिन्नता है।
देखा जाना प्रभृति भव मे भूरि - भेदों भरा है।
कोई होता कलुप - युत है कामना - लिप्त हो के।
त्योही कोई परम - शुचितावान औ संयमी है ॥९३॥

पक्षी होता सु - पुलकित है देख सत्पुष्प फूला।
भौरा शोभा निरख रस ले मत्त हो गूँजता है।
अर्थी - माली मुदित बन भी है उसे तोड़ लेता।
तीनो का ही कल - कुसुम का देखना यो त्रिधा है ॥९४॥

लोकोल्लासी छवि लख किसी रूप उद्भासिता की।
कोई होता मदन - वश है मोद मे मग्न कोई।
कोई गाता परम - प्रभु की कीर्त्ति है मुग्ध सा हो।
यो तीनो की प्रचुर - प्रखरा दृष्टि है भिन्न होती ॥९५॥

शोभा - वाले विटप विलसे पक्षियो के स्वरो से।
विज्ञानी है परम - प्रभु के प्रेम का पाठ पाता।
व्याधा की है हनन - रुचियाँ और भी तीव्र होती।
यो दोनो के श्रवण करने मे बड़ी भिन्नता है॥९६॥

यो ही है भेद युत चखना, सूँघना और छूना।
पात्रो मे है प्रकट इनकी भिन्नता नित्य होती।
ऐसी ही है हृदय - तल के भाव मे भिन्नतायें।
भावो ही से अवनि - तल है स्वर्ग के तुल्य होता॥९७॥

प्यारे आवें सु - बयन कहे प्यार से गोद लेवे।
ठंढे होवें नयन दुख हो दूर मै मोद पाऊँ।
ए भी है भाव मम उर के और ए भाव भी है।
प्यारे जीवे जग - हित करे गेह चाहे न आवे॥९८॥

जो होता है हृदय - तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी - वृत्ति - वाला।
नाना भोगाकलित, विविधा - वासना - मध्य डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी - वृत्ति शाली॥९९॥

निष्कामी है भव - सुखद है और है विश्व - प्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी - वृत्ति - शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय - तल की सात्विकी - वृत्ति ही है॥१००॥

जिह्वा, नासा, श्रवण अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यो त्यागेंगे प्रकृति अपने कार्य्य को क्यो तजेंगे।
क्यो होवेगी शमित उर की लालसायें, अतः मै।
रंगे देती प्रति - दिन उन्हे सात्विकी - वृत्ति मे हूँ ॥१०१॥

कुञ्जों का या उदित - विधु का देख सौंदर्य्य ऑखो।
या कानो से श्रवण कर के गान मीठा खगो का।
मै होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पॉव, मुख, मुरली - नाद जैसा उन्हे पा ॥१०२॥

यो ही जो अवनि नभ मे दिव्य, प्यारा, उन्हे मैं।
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती सूँघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित उनमे भावतः श्याम की पा।
न्यारी - शोभा, सुगुण - गरिमा अंग संभूत साम्य ॥१०३॥

हो जाने से हृदय - तल का भाव ऐसा निराला।
मैने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये।
मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैने देखा परम प्रभु को स्वीय - प्राणेश ही मे ॥१०४॥

पाई जाती विविध जितनी वस्तुये है सबो मे।
जो प्यारे को अमित रँग औ रूप मे देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यो है मेरे हृदय - तल में विश्व का प्रेम जागा ॥१०५॥

जो आता है न जन - मन मे जो परे बुद्धि के है।
जो भावो का विषय न बना नित्य अव्यक्त जो है।
है ज्ञाता की न गति जिसमे इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है, मै अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यो ॥१०६॥

शास्त्रो में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनो की ।
संख्याये है अमित पग औ हस्त भी है अनेको ।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिको से ।
छूता, खाता, श्रवण करता, देखता, सूँघता है ॥१०७॥

ज्ञाताओ ने विशद इसका मर्म्म यो है बताया ।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्त्तियाँ है उसीकी ।
होती आँखे प्रभृति उनकी भूरि - संख्यावती है ।
सो विश्वात्मा अमित - नयनो आदि - वाला अत है ॥१०८॥

निष्प्राणो की विफल बनती सर्व - गात्रेन्द्रियाँ है ।
है अन्या - शक्ति कृति करती वस्तुत: इन्द्रियों की ।
सा है नासा न दृग रसना आदि ईशांश ही है ।
हो के नासादि रहित अतः सूँघता आदि सो है ॥१०९॥

ताराओ मे तिमिर - हर मे वह्नि - विद्युल्लता मे ।
नाना रत्नो, विविध मणियो मे विभा है उसीकी ।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ मे, पादपो मे, खगो मे ।
मै पाती हूँ प्रथित - प्रभुता विश्व मे व्याप्त की ही ॥११०॥

प्यारी - सत्ता जगत - गत की नित्य, लीला - मयी है ।
स्नेहोपेता परम - मधुरा पूतता मे पगी है ।
ऊँची - न्यारी - सरल - सरसा ज्ञान - गर्भा मनोज्ञा ।
पूज्या मान्या हृदय - तल की रंजिनी उज्वला है ॥१११॥

मैने की है कथन जितनी शास्त्र - विज्ञात बाते ।
वे बाते है प्रकट करती ब्रह्म है विश्व - रूपी ।
व्यापी है विश्व प्रियतम मे विश्व मे प्राणप्यारा ।
यों ही मैने जगत - पति को श्याम में है विलोका ॥११२॥

शास्त्रो मे है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज - तन की सर्व संसिद्धियो से।
मै होती हूँ सुखित यह जो तत्वत: देखती हूँ।
प्यारे की औ परम - प्रभु की भक्तियाँ है अभिन्ना ॥११३॥

द्रुतविलम्बित छन्द

जगत - जीवन प्राण स्वरूप का।
निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्व - प्रिय का प्रिय साधन भक्ति है।
वह अकाम महा - कमनीय है ॥११४॥

श्रवण, कीर्त्तन, वन्दन, दासता।
स्मरण, आत्म - निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद - सेवना।
निगदिता नवधा प्रभु - भक्ति है ॥११५॥

वंशस्थ छन्द

बना किसी की यक मूर्त्ति कल्पिता।
करे उसीकी पद - सेवनादि जो।
न तुल्य होगा वह बुद्धि दृष्टि से।
स्वयं उसीकी पद - अर्चनादि के ॥११६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो है उसीके।
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥११७॥

जी से सारा कथन सुनना आर्त्त - उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक - उन्नायको का।
सच्छास्त्रो का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियो का।
मानी जाती श्रवण - अभिधा - भक्ति है सज्जनो मे ॥११८॥

सोये जागे, तम - पतित की दृष्टि मे ज्योति आवे।
भूले आवे सु - पथ पर औ ज्ञान - उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य - न्यारे गुणो का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधिवाली ॥११९॥

विद्वानो के स्व - गुरु - जन के देश के प्रेमिको के।
ज्ञानी दानी सु - चरित गुणी सर्व - तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव सद्विग्रहो के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या ॥१२०॥

जो बाते हैं भव - हितकरी सर्व - भूतोपकारी।
जो चेष्टाये मलिन गिरती जातियाँ है उठाती।
हो सेवा मे निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा - भक्ति भव - सुखदा दासता - संज्ञका है ॥१२१॥

कगालो को विवश विधवा औ अनाथाश्रितो की।
उद्विग्नो की सुरति करना औ उन्हे त्राण देना।
सत्कार्य्यों का पर - हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण - अभिधा भक्ति है भावुको मे ॥१२२॥

द्रुतविलम्बित छन्द

विपद - सिन्धु पड़े नर - वृन्द के।
दुख - निवारण औ हित के लिये।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित आत्म - निवेदन - भक्ति है ॥१२३॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

संत्रस्तो को शरण मधुरा - शान्ति संतापितों को।
निर्बोधो को सु - मति विविधा औषधी पीड़ितो को।
पानी देना तृषित - जन को अन्न भूखे नरो को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना - सज्ञका है ॥१२४॥

नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या।
जो दूर्वा से द्यु - मणि तक है व्योम मे या धरा मे।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य - प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य - नाम्नी ॥१२५॥

वसततिलका छन्द

जो प्राणि - पुंज निज कर्म्म - निपीड़नो से।
नीचे समाज - वपु के पग सा पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोक - पति की पद - सेवनाख्या ॥१२६॥

द्रुतविलम्बित छन्द

कह चुकी प्रिय - साधन ईश का।
कुँवर का प्रिय - साधन है यही।
इस लिये प्रिय की परमेश की।
परम - पावन - भक्ति अभिन्न है ॥१२७॥

यह हुआ मणि - कांचन - योग है।
मिलन है यह स्वर्ण - सुगंध का।
यह सुयोग मिले बहु - पुण्य से।
अवनि मे अति - भाग्यवती हुई ॥१२८॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

जो इच्छा है परम - प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मै प्राणो के अछत उसको भूल कैसे सकूँगी।
यो भी मेरे परम व्रत के तुल्य बातें यही थी।
हो जाऊँगी अधिक अब मै दत्तचित्ता इन्हीमे ॥१२९॥

मै मानूँगी अधिक मुझमे मोह - मात्रा अभी है।
होती हूँ मै प्रणय - रँग से रंजिता नित्य तो भी।
ऐसी हूँगी निरत अब मैं पूत - कार्य्यावली मे।
मेरे जी मे प्रणय जिससे पूर्णत. व्याप्त होवे ॥१३०॥

मैंने प्रायः निकट प्रिय के बैठ, है भक्ति सीखी।
जिज्ञासा से विविध उसका मर्म्म है जान पाया।
चेष्टा ऐसी सतत अपनी बुद्धि - द्वारा करूँगी।
भूलूँ - चूकूँ न इस व्रत की पूत - कार्य्यावली मे ॥१३१॥

जा के मेरी विनय इतनी नम्रता से सुनावे।
मेरे प्यारे कुँवर - वर को आप सौजन्य - द्वारा।
मै ऐसी हूँ न निज - दुख से कष्टिता शोक - मग्ना।
हा! जैसी हूँ व्यथित व्रज के वासियो के दुखो से ॥१३२॥

गोपी गोपो विकल व्रज की बालिका बालको को।
आ के पुष्पानुपम मुखड़ा प्राणप्यारे दिखावे।
बाधा कोई न यदि प्रिय के चारु - कर्त्तव्य मे हो।
तो वे आ के जनक - जननी की दशा देख जावे ॥१३३॥

मै मानूँगी अधिक बढ़ता लोभ है लाभ ही से।
तो भी होगा सु - फल कितनी भ्रान्तियाँ दूर होगी।
जो उत्कण्ठा - जनित दुखड़े दाहते है उरो को।
सद्वाक्यो से प्रबल उनका वेग भी शान्त होगा ॥१३४॥

सत्कर्मी है परम - शुचि है आप ऊधो सुधी है।
अच्छा होगा सनय प्रभु से आप चाहे यही जो।
आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार - व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥१३५॥

द्रुतविलम्बित छन्द

चुप हुई इतना कह मुग्ध हो।
व्रज - विभूति - विभूषण राधिका।
चरण की रज ले हरिबंधु भी।
परम - शान्ति - समेत बिदा हुए ॥१३६॥

सप्तदश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

ऊधो लौटे नगर मथुरा मे कई मास बीते।
आये थे वे ब्रज - अवनि में दो दिनो के लिये ही।
आया कोई न फिर ब्रज मे औ न गोपाल आये।
धीरे - धीरे निशि - दिन लगे बीतने व्यग्रता से ॥ १ ॥

बीते थोड़ा दिवस ब्रज मे एक सम्वाद आया।
कन्याओं से निधन सुन के कंस का कृष्ण द्वारा।
जाना ग्रामो पुर नगर को फूँकता भू - कँपाता।
सारी सेना सहित मथुरा है जरासन्ध आता ॥ २ ॥

ए बाते ज्यो ब्रज - अवनि में हो गई व्यापमाना।
सारे प्राणी अति व्यथित हो, हो गये शोक - मग्न।
क्या होवेगा परम - प्रिय की आपदा क्यो टलेगी।
ऐसी होने प्रति - पल लगी तर्कनाये उरो में ॥ ३ ॥

जो होती थी गगन - तल मे उत्थिता धूलि यों ही।
तो आशंका - विवश बनते लोग थे बावले से।
जो टापे हो ध्वनित उठती घोटको की कहीं भी।
तो होता था हृदय शतधा गोप - गोपांगना का ॥ ४ ॥

धीरे - धीरे दुख - दिवस ए त्रास के साथ बीते।
लोगों द्वारा यह शुभ समाचार आया गृहो मे।
सारी सेना निहत अरि की हो गई श्याम - हाथो।
प्राणो को ले मगध - पति हो भूरि उद्विग्न भागा ॥ ५ ॥

बारी - बारी व्रज - अवनि को कम्पमाना बना के।
बातें धावा - मगध - पति की सत्तरा - बार फैली।
आया सम्वाद व्रज - महि मे बार अट्ठारहीं जो।
टूटी आशा अखिल उससे नन्द - गोपादिको की ॥ ६ ॥

हा ! हाथो से पकड़ अबकी बार ऊबा - कलेजा।
रोते - धोते यह दुखमयी बात जानी सबो ने।
उत्पातो से मगध - नृप के श्याम ने व्यग्र हो के।
त्यागा प्यारा - नगर मथुरा जा बसे द्वारिका मे ॥ ७ ॥

ज्यो होता है शरद ऋतु के बीतने से हताश।
स्वाती - सेवी अतिशय तृषावान प्रेमी पपीहा।
वैसे ही श्री कुँवर - वर - के द्वारिका में पधारे।
छाई सारी व्रज - अवनि मे सर्वदेशी निराशा ॥ ८ ॥

प्राणी आशा - कमल - पग को है नहीं त्याग पाता।
सो वीची सीं लसित रहती जीवनांभोधि मे है।
व्यापी भू के उर - तिमिर सी है जहाँ पै निराशा।
है आशा की मलिन किरणें ज्योति देती वहाँ भी ॥ ९ ॥

आशा त्यागी न ब्रज - महि ने हो निराशामयी भी।
लाखो ऑखें पथ कुँवर का आज भी देखती थीं।
मात्राये थीं समधिक हुई शोक दुखादिको की।
लोहू आता विकल - दृग में वारि के स्थान मे था ॥१०॥

कोई प्राणी कब तक भला खिन्न होता रहेगा।
ढालेगा अश्रु कब तक क्यो थाम टूटा - कलेजा।
जी को मारे नखत गिन के ऊब के दग्ध हो के।
कोई होगा बिरत कब लौ विश्व - व्यापी - सुखो से ॥११॥

न्यारी - आभा निलय - किरणें सूर्य्य की औ शशी की।
ताराओ से खचित नभ की नीलिमा मेघ - माला।
पेड़ो की औ ललित - लतिका - वेलियो की छटायें।
कान्ता - क्रीड़ा सरित सर औ निर्भरो के जलो की ॥१२॥

मीठी - ताने मधुर - लहरे गान - वाद्यादिको की।
प्यारी बोली विहग - कुल की बालको की कलाये।
सारी - शोभा रुचिर - ऋतु की पर्व की उत्सवो की।
वैचित्र्यो से बलित धरती विश्व की सम्पदायें ॥१३॥

सतप्तो का, प्रबल - दुख से दग्ध का, दृष्टि आना।
जो ऑखो मे कुटिल - जग का चित्र सा खींचते है।
आख्यानो के सहित सुखदा - सान्त्वना सज्जनो की।
संतानो की सहज ममता पेट - धन्धे सहस्रो ॥१४॥

है प्राणी के हृदय - तल को फेरते मोह लेते।
धीरे - धीरे प्रबल - दुख का वेग भी है घटाते।
नाना भावो सहित अपनी व्यापिनी मुग्धता से।
वे हैं प्राय: व्यथित - उर की वेदनाये हटाते ॥१५॥

गोपी - गोपो जनक - जननी बालिका - बालको के।
चित्तोन्मादी प्रबल - दुख का वेग भी काल पा के।
धीरे - धीरे बहुत बदला हो गया न्यून प्रायः।
तो भी व्यापी हृदय - तल मे श्यामली मूर्ति ही थी ॥१६॥

वे गाते तो मधुर - स्वर से श्याम की कीर्त्ति गाते।
प्राय: चर्चा समय चलती बात थी श्याम ही की।
मानी जाती सुतिथि वह थी पर्व औ उत्सवो की।
थी लीलाये ललित जिनमे राधिका - कान्त ने की ॥१७॥

खो देने मे विरह - जनिता वेदना किल्विषो के।
ला देने मे व्यथित - उर मे शान्ति भावानुकूल।
आशा दग्धा जनक - जननी चित्त के बोधने मे।
की थी चेष्टा अधिक परमा - प्रेमिका राधिका ने ॥१८॥

चिन्ता - ग्रस्ता विरह - विधुरा भावना मे निमग्ना।
जो थी कौमार - व्रत - निरता बालिकाये अनेको।
वे होती थी बहु - उपकृता नित्य श्री राधिका से।
घंटो आ के पग - कमल के पास वे बैठती थी ॥१९॥

जो छा जाती गगन - तल के अंक मे मेघ - माला।
जो केकी हो नटित करता केकिनी साथ क्रीड़ा।
प्राय: उत्कण्ठ बन रटता पी कहाँ जो पपीहा।
तो उन्मत्ता - सदृश बन के बालिकाये अनेको ॥२०॥

ये बाते थी स - जल - घन को खिन्न हो हो सुनाती।
क्यो तू हो के परम - प्रिय सा वेदना है बढ़ाता।
तेरी संज्ञा सलिल - धर है और पर्जन्य भी है।
ठंढा मेरे हृदय - तल को क्यो नहीं तू बनाता ॥२१॥

तू केकी को स्व - छवि दिखला है महा मोद देता।
वैसा ही क्यो मुदित तुझसे है पपीहा न होता।
क्यो है मेरा हृदय दुखता श्यामता देख तेरी।
क्यो ए तेरी त्रिविध मुझको मूर्त्तियाँ दीखती है ॥२२॥

ऐसी ठौरो पहुँच बहुधा राधिका कौशलो से।
ए बाते थीं पुलक कहतीं उन्मना - बालिका से।
देखो प्यारी भगिनि भव को प्यार की दृष्टियो से।
जो थोड़ी भी हृदय - तल मे शान्ति की कामना है ॥२३॥

ला देता है जलद दृग मे श्याम की मंजु - शोभा।
पत्राभा से मुकुट - सुषमा है कलापी दिखाता।
पी का सच्चा प्रणय उर मे ऑकता है पपीहा।
ए बाते है सुखद इनमे भाव क्या है व्यथा का ॥२४॥

होती राका विमल - विधु से बालिका जो विपन्ना।
तो श्री राधा मधुर - स्वर से यो उसे थीं सुनाती।
तेरा होना विकल सुभगे बुद्धिमत्ता नहीं है।
क्या प्यारे की वदन - छवि तू इन्दु मे है न पाती ॥२५॥

मालिनी छन्द

जब कुसुमित होतीं वेलियाँ औ लताये।
जब ऋतुपति आता आम की मंजरी ले।
जब रसमय होती मेदिनी हो मनोज्ञा।
जब मनसिज लाता मत्तता मानसो मे ॥२६॥

जब मलय - प्रसूता - वायु आती सु - सिक्ता।
जब तरु कलिका औ कोंपलो से लुभाता।
जब मधुकर - माला गूँजती कुंज मे थी।
जब पुलकित हो हो कूकती कोकिलाये ॥२७॥

तब ब्रज बनता था मूर्ति उद्विग्नता की।
प्रति - जन उर मे थी वेदना वृद्धि पाती।
गृह, पथ, वन, कुंजो मध्य थी दृष्टि आती।
बहु - विकल उनींदी, ऊबती, बालिकाये ॥२८॥

इन विविध व्यथाओ मध्य डूबे दिनो में।
अति - सरल - स्वभावा सुन्दरी एक बाला।
निशि - दिन फिरती थी प्यार से सिक्त हो के।
गृह, पथ, बहु - बागो कुंज - पुंजो, वनो मे ॥२९॥

वह सहृदयता से ले किसी मूर्छिता को।
निज अति उपयोगी अंक में यत्न - द्वारा।
मुख पर उसके थी डालती वारि - छींटे।
वर - व्यजन डुलाती थी कभी तन्मयी हो ॥३०॥

कुवलय - दल बीछे पुष्प औ पल्लवो को।
निज - कलित - करो से थी धरा में बिछाती।
उस पर यक तप्ता बालिका को सुला के।
वह निज कर से थी लेप ठंढे लगाती ॥३१॥

यदि अति अकुलाती उन्मना - बालिका को।
वह कह मृदु - बाते बोधती कुंज मे जा।
वन - वन बिलखाती तो किसी बावली का।
वह ढिग रह छाया - तुल्य संताप खोती ॥३२॥

यक थल अवनी मे लोटती वंचिता का।
तन रज यदि छाती से लगा पोंछती थी।
अपर थल उनींदी मोह - मग्ना किसीको।
वह शिर सहला के गोद मे थी सुलाती ॥३३॥

सुन कर उसमें की आह रोमांचकारी।
वह प्रति - गृह मे थी शीघ्र से शीघ्र जाती।
फिर मृदु - वचनों से मोहनी - उक्तियो से।
वह प्रबल - व्यथा का वेग भी थी घटाती ॥३४॥

गिन - गिन नभ - तारे ऊब आँसू बहा के।
यदि निज - निशि होती कश्चिदार्त्ता बिताती।
वह ढिग उसके भी रात्रि में ही सिधाती।
निज अनुपम राधा - नाम की सार्थता से ॥३५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

राधा जाती प्रति - दिवस थीं पास नन्दांगना के।
नाना बातें कथन कर के थीं उन्हे बोध देती।
जो वे होती परम - व्यथिता मूर्छिता या विपन्ना।
तो वे आठो पहर उनकी सेवना मे बिताती ॥३६॥

घंटो ले के हरि - जननि को गोद में बैठती थीं।
वे थीं नाना जतन करतीं पा उन्हे शोक - मग्ना।
धीरे - धीरे चरण सहला औ मिटा चित्त - पीड़ा।
हाथो से थीं दृग - युगल के वारि को पोंछ देती ॥३७॥

हो उद्विग्ना बिलख जब यों पूछती थीं यशोदा।
क्या आवेंगे न अब ब्रज मे जीवनाधार मेरे।
तो वे धीरे मधुर - स्वर से हो विनीता बताती।
हाँ आवेंगे, व्यथित - ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे ॥३८॥

आता ऐसा कथन करते वारि राधा - दृगो मे।
बूँदो - बूँदो टपक पड़ता गाल पै जो कभी था।
जो आँखो से सदुख उसको देख पातीं यशोदा।
तो धीरे यो कथन करती खिन्न हो तू न बेटी ॥३९॥

हो के राधा विनत कहती मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे दृग युगल मे नीर आनन्द का है।
जो होता है पुलक कर के आप की चारु सेवा।
हो जाता है प्रकटित वही वारि द्वारा दृगो मे ॥४०॥

वे थी प्राय ब्रज - नृपति के पास उत्कण्ठ जाती।
सेवाये थी पुलक करती क्लान्तियाँ थी मिटाती।
बातो ही मे जग-विभव की तुच्छता थी दिखाती।
जो वे होते विकल पढ़ के शास्त्र नाना सुनाती ॥४१॥

होती मारे मन यदि कही गोप की पंक्ति बैठी।
किम्वा होता विकल उनको गोप कोई दिखाता।
तो कार्य्यों मे सविधि उनको यत्नत: वे लगातीं।
औ ए बाते कथन करतीं भूरि गंभीरता से ॥४२॥

जी से जो आप सब करते प्यार प्राणेश को है।
तो पा भू मे पुरुष - तन को, खिन्न हो के न बैठे।
उद्योगी हो परम रुचि से कीजिये कार्य्य ऐसे।
जो प्यारे है परम प्रिय के विश्व के प्रेमिको के ॥४३॥

जो वे होता मलिन लखती गोप के बालको को।
देती पुष्पो रचित उनको मुग्धकारी - खिलौने।
दे शिक्षाये विविध उनसे कृष्ण - लीला करातीं।
घंटो बैठी परम - रुचि से देखती तद्गता हो ॥४४॥

पाई जाती दुखित जितनी अन्य गोपांगनाये।
राधा द्वारा सुखित वह भी थी यथा रीति होती।
गा के लीला स्व प्रियतम की वेणु, वीणा बजा के।
प्यारी - बाते कथन कर के वे उन्हे बोध देती ॥४५॥

संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना - कार्य्य में भी ।
वे सेवा थीं सतत करती वृद्ध - रोगी जनों की ।
दीनो, हीनो, निबल विधवा आदि को मानती थीं ।
पूजी जाती ब्रज - अवनि में देवियों सी अतः थीं ॥४६॥

खो देती थी कलह - जनिता आधि के दुर्गुणो को ।
धो देती थी मलिन - मन की व्यापिनी कालिमायें ।
बो देती थी हृदय - तल मे बीज भावज्ञता का ।
वे थी चिन्ता-विजित - गृह में शान्ति - धारा बहाती ॥४७॥

आटा चीटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते ।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी ।
पत्तों को भी न तरु - वर के वे वृथा तोड़ती थीं ।
जी से वे थीं निरत रहती भूत - सम्बर्द्धना में ॥४८॥

वे छाया थीं सु - जन शिर की शासिका थीं खलों की ।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितो की ।
दीनो की थी बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितो की ।
आराध्या थी ब्रज - अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं ॥४९॥

जैसा व्यापी विरह - दुख था गोप गोपांगना का ।
वैसी ही थी सदय - हृदया स्नेह की मूर्त्ति राधा ।
जैसी मोहावरित ब्रज में तामसी - रात आई ।
वैसे ही वे लसित उसमे कौमुदी के समा थीं ॥५०॥

जो थीं कौमार - व्रत - निरता बालिकायें अनेको ।
वे भी पा के समय ब्रज मे शान्ति विस्तारती थीं ।
श्री राधा के हृदय - बल से दिव्य शिक्षा गुणो से ।
वे भी छाया - सदृश उनकी वस्तुतः हो गई थीं ॥५१॥

तो भी आई न वह घटिका औ न वे वार आये।
वैसी सच्ची सुखद ब्रज मे वायु भी आ न डोली।
वैसे छाये न घन रस की सोत सी जो बहाते।
वैसे उन्माद - कर - स्वर से कोकिला भी न बोली ॥५२॥

जीते भूले न ब्रज - महि के नित्य उत्कण्ठ प्राणी।
जी से प्यारे जलद - तन को, केलि - क्रीड़ादिको को।
पीछे छाया विरह - दुख की वंशजो - बीच व्यापी।
सच्ची यो है ब्रज - अवनि मे आज भी अंकिता है ॥५३॥

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय - हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा! भरत - भुव के अंक मे और आवे।
ऐसी व्यापी विरह - घटना किन्तु कोई न होवे ॥५४॥

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास

इसमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी से लेकर आजतक का पूरा-पूरा हमारे साहित्य का इतिहास है।

पुस्तक मे पुराने ढग की ब्रजभाषा, खड़ी बोली और छायावाद की कविताओं का पूर्ण विवेचन एवं उनकी प्रवृत्तियों का यथावत् निरूपण तथा नाटक, उपन्यास, कहानी आदि का पर्यालोचन आधुनिक शैली से किया गया है।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने स० १९९१ की इसे सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानकर लेखक को 'द्विवेदी स्वर्ण पदक' पुरस्कार में दिया है। मूल्य ३)

विनय-पत्रिका (सटीक)

(टीकाकार—श्री वियोगी हरि)

यह विनय-पत्रिका की टीका हिन्दी-साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। गणेश, शिव, हनुमान, भरत, लक्ष्मण आदि पार्षदो सहित जगदीश श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति के बहाने वेदान्त के गूढ तत्त्वो का इस पुस्तक मे समावेश कर दिया है। साहित्य की दृष्टि से भी यह उच्च कोटि का ग्रन्थ है। मू० ३॥)

हिन्दी दासबोध

जिस तरह उत्तर भारत में गोस्वामी जी की रामायण का प्रचार राजा से लेकर रक की झोपड़ी तक है, उसी तरह इस पुस्तक का प्रचार दक्षिण भारत मे है। भगवान तिलक ने तो 'दासबोध' को ससार के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथो मे माना है। मूल्य २॥)

भक्त और भगवान

सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, रसखान, बिहारी, भारतेन्दु, सत्यनारायण तथा अष्टछाप के भक्त कवि-पुगवो के भगवान के प्रति जो अनुपम उद्गार हैं उनका इस पुस्तक मे बहुत ही सुन्दर सकलन किया गया है। भक्तो के वास्ते तो यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य १॥)

बिहारी की वाग्विभूति

बिहारी हिन्दी के बहुत लोक-प्रसिद्ध कवि हैं। उनकी सतसई की पढाई कई परीक्षाओ मे होती है। पर बिहारी की विशेषताओ का सम्यक् उद्घाटन करनेवाली हिंदी में कोई भी पुस्तक नहीं थी। इस पुस्तक से बिहारी-सम्बन्धी सभी बातो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। मूल्य १।।।)

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

महाराष्ट्र प्रान्त के प्रसिद्ध महात्मा श्री ज्ञानेश्वर जी ने भक्तो को भगवद्‌गीता का वास्तविक मर्म समझाने के लिए शकराचार्य के मतानुसार 'ज्ञानेश्वरी' नामक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और विशद टीका लिखी है। जितनी गीता पर टीकाएँ आज तक निकली हैं उनमे यह सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। मूल्य ३।।)

हिन्दी - नाट्य - साहित्य

इस ग्रन्थ के आरम्भ मे प्राय· ५० पृष्ठो में सस्कृत-नाट्यसाहित्य की उत्पत्ति, विकाश, नाटक तथा लक्षण-ग्रन्थो का सक्षिप्त इतिहास, रूपक-भेद, वस्तु, रस आदि पर एक पूरा प्रकरण दिया गया है। इसके अनन्तर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्व के नाटको का इतिहास देकर भारतेन्दु जी की नाट्य-रचनाओ का विवरण आलोचना सहित क्रमग तीन प्रकरणो मे दिया गया है। इसके बाद भारतेन्दु-काल के अन्य नाटककारो का विवरण एक प्रकरण मे देकर वर्तमानकाल के प्रमुख कवि 'प्रसाद' जी की रचनाओ की ६० पृष्ठो मे विवेचना की गई है। पुस्तक में नाटको के इतिहास-सम्बन्धी समग्र ज्ञातव्य बाते दी गई हैं। मूल्य २)

कहानी-कला

इस पुस्तक में कहानियो की रचना कैसे होती है, इसका आकर्षक ढंग से, एक-एक बात का प्रेमचन्द जी तथा 'प्रसाद' जी आदि प्रसिद्ध कहानी-लेखको की कहानियो में से उद्धरण देकर वर्णन किया गया है। जो लोग कहानी लिखना सीखना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। मू० ।।।=)

वैदेही-वनवास

यह हरिऔध जी की करुण-रस-प्रधान सर्वश्रेष्ठ रचना है। पुस्तक पढते-पढते आप करुण-रस के सागर मे इतने निमग्न हो जायँगे कि आप की ऑखो से ऑसू गिरने लगेंगे। लेखक ने एक एक पंक्ति इसकी ऑसू पोछ-पोछ कर लिखी है। ग्रथारंभ मे काव्य-सबधी अनेक बातो का दिग्दर्शन कराते हुए लेखक ने २५ पेज की भूमिका भी लिखी है। सभी पत्र-पत्रिकाओ ने इस पुस्तक की मुक्तकंठ से प्रशसा की है। मूल्य २।)

पुष्प-विज्ञान

इस पुस्तक मे पुष्पो की उत्पत्ति, उनका विकाश, उनकी सामाजिक आवश्यकता आदि का वर्णन तो दिया ही है, साथ ही प्रायः सभी भारतीय पुष्पों का आयुर्वेद मता-नुसार गुणावगुण एवं रोग विशेष मे उनके विशेष उपाय भी बतलाए गए हैं। मूल्य ।।।)

ठंढे छींटे

यह बात प्रसिद्ध ही है कि श्री हरि जी गद्य-काव्य लिखने मे एक ही हैं। यह आपकी गद्य-काव्य के रूप मे सर्वश्रेष्ठ क्रान्तिकारी रचना है।

खड़ी बोली हिंदी-साहित्य का इतिहास

खड़ी बोली के सभी अगो के विषय मे इस पुस्तक द्वारा अच्छी तरह समाधान हो सकता है। हिंदी-साहित्य मे अपने विषय की यह अकेली पुस्तक है। मूल्य १।।।)

भाषा की शिक्षा

हिन्दी भाषा की शिक्षा देने के लिए अपने विषय की यह अपूर्व पुस्तक है। यह ग्रन्थ उन सभी अध्यापको के काम का है जो प्राथमिक कक्षाओ से लेकर ऊँची कक्षाओ तक भाषा की शिक्षा देते हैं। हर एक अध्यापक को उसकी आवश्यकतानुसार इसमे सामग्री मिलेगी। मूल्य २)